

पूर्वोदय प्रकाशन
नई दिल्ली-११०००२

ये और वे

जैनेन्द्रकुमार



मूल्य पन्द्रह रुपये (१५.००)

 परिवर्द्धित संस्करण सितम्बर १९७७
प्रकाशक पूर्वोदय प्रकाशन, ७/८ दरियागंज, नई दिल्ली २
मुद्रक साधना प्रिंटर्स, नवीन शाहदरा दिल्ली ३२

YE AUR VE (Reminences) Jainendra Kumar

कुछ शब्द

सम्पक म आए कुछ मा य व्यक्तिया के सबध म लिखन का अवसर पहल आया था। उन रचनाआ का सकलन ये और वे नाम स प्रकाशित हाते समय एक वह मतव्य भी सम्मिलित कर लिया गया या जो स्वय मेरा मेरे बारे म था। आल इडिया रेडियो क आदश पर तब मुझे मरना हुआ था और फिर 'जैन द्र कुमार की मौत पर लिखना पडा था। इस नए सस्करण म उसम एक अति रिक्त याग हुआ है। कादम्बिनी के सपादक क आदेश पर फिर कल्पना करनी पडी कि मैं मर रहा हू। वह विभोर कल्पना भी इसम शामिल कर ली गई है जिसक लिए का म्बिनी का आभार मुझे स्वीकार कर लना चाहिए।

७/३६ दरियागज,
नई दिल्ली ११०००२

—जने द्रकुमार
१५ ६ ७७

अनुक्रम

रवीन्द्रनाथ ठाकुर



—रवीन्द्रनाथ ठाकुर के नाम और साहित्य से आप कब और कैसे परिचित हुए ?

—छुटपन से ही नाम सुनता और चित्र देखता आया था। कहा ही नहीं जा सकता कि नाम का परिचय पहले कब हुआ। होश आया तब से ही वह नाम परिचित रहा है। नोबल पुरस्कार पाते ही इस नाम की दुनिया में धूम हो गई। मैं तब बच्चा ही था और अक्षरारम्भ में था। उनका आविष्कार मुझे नहीं करना पड़ा जैसे कि और लेखकों के नामों के सम्बन्ध में हुआ। आदि दिन से जैसे सूरज और चाँद देखते हैं वैसा ही रवि ठाकुर के बारे में हुआ। अस्त का तो पता चला, उदय की खबर नहीं। मैंने तो उन्हें मध्याह्न में ही पाया।

नाम के साथ ही 'गीताञ्जलि' का नाम परिचित हो गया। पूरी पुस्तक उनकी पहले पहल कब और कौन सी पढ़ी याद नहीं पर उनकी कहानियाँ यहाँ वहाँ काफी छोटेपन में सामने आ गई थीं। उनके बारे में पढने को किताबों और अखबारों में हर जगह मिलता रहता था। छठी सातवीं में पढ़ता था तब अंग्रेजी में 'काबुली वाला' कहानी देखने की याद है।

—कभी आपको उनसे मिलने की उत्सुकता भी हुई ?

—उत्सुकता तो क्या कहूँ क्योंकि मेरी कल्पना उतनी ऊँची न जाती थी। वह तो मनोलोक के देव पुरुष थे मैं हीनता से दबा था। पर मिलने का अवसर ऐसे आ गया कि पता ही न चला। भाग्य देखता ही रहता है। पहली बार सन ३० ३१ में भेंट हुई।

—यह भेंट किस प्रकार हुई ?

—बनारसीदास चतुर्वेदी को आप जानते होंगे। हिन्दी के साहित्य क्षेत्र का उन्हें प्रहरी ही कहिए या दादा गुरु कह दीजिए। अनोखे पुरुष हैं। विशाल भारत के वह सम्पादक थे और नई-नई चर्चाएं उनके पत्र से आरम्भ होती थीं। प्रवासी भारतीयों के बारे में उन्होंने कोई वक्तव्य दिया जो तब की सरकार को अनुकूल न प्रतीत हुआ। अभ्यर्थना के साथ बातचीत और मुलाकात के लिए उन्हें राजधानी दिल्ली बुलाया गया। मैं जेल काटकर तब दिल्ली लौट आया था। गांधी इरविन पैक्ट हो गया था और जेल से छुटकारा कुछ पहले ही मिल गया था। यहाँ दादा गुरु मिले और बोले—'देखो जी यह जो इन लोगों ने डब्बल फस्ट क्लास का फालतू पैसा दे दिया है उसका एक यही न उपयोग हो सकता है कि जितने बन सकें हिन्दी साहित्यिकों को कवि गुरु से भेंट कराने के लिए ले जाऊं। यह दूरी अच्छी नहीं है। और कवि ठाकुर की वय काफी है। इतना बड़ा पुरुष भारत को मिला है और हम हिन्दी वालों को समय रहते उनका लाभ ले लेना चाहिए। अब तुम कहो चलोगे न ला मैं भी उलटे पूछने लगा कहता हूँ, चलना होगा तयार हो जाओ।'

दादा-गुरु की यही विशेषता है। बात ऐसे वेग से सिर पर गिराते हैं कि इधर उधर के लिए अवसर ही नहीं छोड़ते। उस प्रसंग को मैं याद नहीं करना चाहता। क्योंकि बातों-बातों में एक चोट की बात मैंने उन्हें कह दी और उन्हें रूठा दिया था। पर उससे क्या होना जाना था। दादा की वन्दायना पर उसका असर क्या पड़ता था। उन्होंने अपने अर्थ-कष्ट की बातें सुनाईं। कर्ज होने का जिक्र किया और कहा जैनेन्द्र देखो इस डबल फस्ट क्लास के मिल पैसे का बताओ क्या करूँ। और तुम नये हो। आओ चलो ! रवि ठाकुर के दर्शन से कुछ पाओगे ही।

यह कृपा उलटी थी अयाचित ही नहीं बलात सिर पर आई। मैं अपनी हीनता से शायद न उभर पाता पर बनारसीदास जी के सद्भाव का वेग अनिवार्य था। ऐसे में कलकत्ता पहुँचा और फिर बनारसीदास जी के संरक्षण और नेतृत्व में शान्ति निकेतन कवि गुरु के चरणों में। साथ माखनलाल चतुर्वेदी, सुदर्शन जी, सत्यवती मल्लिक और दूसरे लोग थे।

—आपको कवि गुरु कैसे लगे ?

—जैसे हिम शिखर, धवल और तुंग। वैसे ही निर्मल और विरल।

—आपकी उनसे कुछ बातचीत भी हुई ?

—वह तो होती ही। भेंट में चुप थोड़े ही बैठा रहा जा सकता है। लेकिन उस सब का तो पूरा स्मरण नहीं।

—क्या कुछ भी स्मरण नहीं ?

—नहीं, स्मरण है। पारिपार्श्विक कुछ तो ध्यान में अटका रह गया है। बनारसीदास जी सचित थे। वह मानो हमें तीर्थ पर ले जा रहे थे जीवित तीर्थ। रवि ठाकुर के बँगले का नाम उत्तरायण था। पास ही कवि ने तभी-हाल 'शामली' शीर्षक देकर मिट्टी की कच्ची कुटिया बनवाई थी। बँगला छोड़ उनका उसी में रहने का विचार था। उत्तरायण के हाते में प्रवेश करने पर राह चलते हुए बनारसीदास जी बार-बार चिहुँकते कि हमारे जूतों की आवाज़ कर्कश भाव से तो कवि के कानों तक न पहुँचेगी। और वह होले पाँव रखते और चाहते कि हम सब आवाज़ बचाएँ। कभी वह सोचते, कवि का मूड कैसा होगा। उनके लेखे मूड' सब कुछ था। और वही असल तत्त्व होता है। कहीं आराम न कर रहे हों ? और जो व्यग्र हुए तो ? और कहीं प्रसन्न मिल जायँ तो बात ही क्या है। उनकी मानो एक भक्त की-सी स्थिति थी जिस पर पौरोहित्य का काम आ पड़ा हो। मेरा जूता देसी था और चूँ चाँ किए बिना न रहता था। कवि का डर पीछे हो, दादा का डर साथ और सामने था। पाँव कितने ही होले रखता। देसी जूता अपनी आन न छोड़ता था। बिना बोले रहता न था ऐसी हालत में हम बरामदे में पहुँच गए। वहाँ कुरसियाँ और मूढ़े पड़े थे बाकी कोई न था। एक दो-तीन मिनट हो गए। क्या सूचना नहीं दी गई या हम बेवक्त हैं ? दादा का एक पर टिकता तो दूसरा उठता। कहीं विश्राम न कर रहे हों ? क्या आवश्यक है कि उन्हें कष्ट ही दिया जाय ? फिर न देखा जाय और अभी लौटकर ही चला जाय कि इतने बराबर के कमरे से आवाज़ आई। बंगाली बोली थी और एक ओर से नाम्बा का उच्चारण महीन न था। मालूम हुआ माली है। साग सब्जी की कुछ बातचीत है। माली बेधड़क है और बेखौफ और स्वयं कवि गुरु के समक्ष। हम खाली बरामदे में खड़े ही रहे। विमूढ़ कि कर्त्तव्य क्या है ? हो सकता है, कि पाँच से ऊपर सात मिनट भी हो गए हों। मैंने सोचा कि कुछ होना

चाहिए। हलके से सुझाया कि कुछ करना चाहिए। कवि पीछे खिन्न हो सकते हैं कि हम लोगों के आते ही उन्हें सूचना क्यों नहीं दी गई। यदि जानें कि हम बाहर व्यर्थ प्रतीक्षा में खड़े रहे तो उन्हें कष्ट हो सकता है। इस अन्याय से उन्हें बचाना चाहिए। अपने लोगों की आतुर स्तब्धता मुझे समझ न आ रही थी। मैंने जैसे कदम बढ़ाया कि चार डग भरकर दरवाज़े पर पहुँचकर कहूँ कि बाहर हिंदी के अभ्यागत आ गए हैं। कठिनाई से एक कदम रखा होगा कि कवि दरवाज़े से बाहर आए। धीमे और स्थिर कदम कन्धे ज़रा आगे को झुके हुए बदन शुभ्र, ढीली पोशाक नीचे चुन्नट से लटकी धोती। पाँव में विद्यासागरी चप्पल।

कुछ देर सन्न-सा असमञ्जस रहा। कवि बढ़ते हुए आए। कुरसी के पास तक आ गए तब हम लोगों ने बारी बारी से बढ़ कर चरणस्पर्श किए।

वह कुरसी पर बैठ गए। और बनारसीदास चतुर्वेदी ने सब का परिचय कराया। बात हँसी खुशी के साथ मुक्तभाव से सहराती-सी चलने लगी। कवि हिन्दी समझ लेते थे लेकिन बोलते अंग्रेज़ी में जो हम सब समझ पाते थे। हिंदी के बारे में उन्होंने कहा "क्या आप यह नहीं चाहेंगे कि हिंदी के निकट मैं किसी राष्ट्रीय कर्तव्य की प्रेरणा से नहीं, बल्कि स्वतः रस लाभ और आनन्द लाभ की दृष्टि से आया हूँ। राष्ट्रभाषा तो है पर आप हिन्दी वालों को इतने से सन्तोष क्यों हो जाना चाहिए? संख्या के बल पर उसे नहीं टिके रहना है। रस और आनंद की उपलब्धि के लिए उधर जब आप ही लोग खिचेंगे तब उसका मान स्वप्रतिष्ठ मानना चाहिए।

बहुत समय उनकी दृष्टि किसी विशेष की ओर नहीं होती थी। अधिकांश नीचे को देखते थे या किसी प्रश्न पर प्रश्नकर्ता की ओर निगाह उठी तो आँखें मानो थोड़ा मुस्कराकर वहाँ से हट जाती थीं। अपनी कहानी सुनाते हुए कहने लगे मेरी तो विवशता थी। बँगला की परम्पराएँ बनी तो थीं नहीं, बन रही थीं। पर संस्कृत का भण्डार भरा था ही। इससे हम झट उसका सहारा ले-लेते थे। वहाँ शब्द का कहाँ अंत कहाँ उनकी थाह पर हिंदी में तो इतना संत साहित्य पड़ा है! अनेक देशज शब्द हैं या संस्कृत में आकर बन सवर गए हैं। हिंदी तो उस सम्पदा से भर-पूर है। वह अधिक लोक-सुगम हो सकती है।

बनारसीदास जी ने कहा कि लेखकों को कुछ सन्देश दीजिए। किंचित असमंजस में रहकर बोले लिखने में लेखक को साफ़ होना चाहिए—सादा

और सीधा। अंग्रजी के शब्द थे Straight Simple & Direct

मैं तल्लीनता से सुन रहा था। बोला आपने डायरेक्ट कहा और सिम्पल भी। आप की भाषा तो अलकृत लगती है और गूढ। सीधी कहा ? उसमे तो फेर और पेंच दीखते हैं।'

यह मैंने क्या किया ? जसे भारी पाप किया हो। धृष्टता और असह्य क्या होगा। सामने बनारसीदास जी अकुला आए। उनकी आखो मे मानो मेरे लिए लज्जा थी और भत्सना।

मुह से बात निकल तो गई पर मैं बेहद सहम आया। मेरा बचपन ही रहा होगा। कवि के प्रति मेरा मन आस्था और सम्मान से भरा था। अनास्था का कही कण भी न था। इसलिए वह भूल थी। इसलिए वह भूल थी तो व्यवहार की ही थी और किसी और की त्रुटि न थी।

जान पडा कि बनारसीदास जी भत्सना का भाव अन्दर ही रोक कर नहीं रह सकते। उन्होने फटकार मे कुछेक शब्द कहे भी। स्पष्ट था कि समुदाय के अन्य जन भी उनसे असहमत नही है। लेकिन तभी सब असमञ्जस और द्विधा को काटती हुई कवि की वाणी उठी। एक एक शब्द स्पष्ट था। स्वर स्थिर और गति म थर। बोले Yes I want you not to follow me I want you to follow one I want you to follow yourself (हा, मैं नही चाहता कि आप मेरा अनुकरण करें या अनुकरण किसी का भी करें। अनुकरण करना है आपको तो अपना।)

कहते समय किसी विशेष की ओर नही देख रहे थे। चेहरे पर सचाई और सलग्नता थी। मैं उसमे सब उत्तर पा गया। कही उन शब्दो म आत्म-समथन न था न आत्मरक्षा का प्रयत्न था और न आत्म व्याख्या का प्रयत्न था। किंचित भी रोप की ध्वनि न थी। वाणी की उस सलग्नता पर सहसा औरो का विभाव भी शान्त हुआ।

याद है इसके बाद हल्की फुल्की बातचीत हो आई। मैं बार-बार उनके चेहरे को देखता था। भाल पर रेखाए थी फिर भी कही से वह कुचित न था कान्तिमान था। चेहरा सवथा निर्दोष प्रतीत हुआ, मानो मनुष्य से अधिक देव मूर्ति का हो। भव्यता इतनी नितान्त निर्लेप हो सकती है। सहसा यह विश्वसनीय न जान पडता था। हठात मैं मानता था कि कही कुछ मिश्रण होना ही चाहिए। इतनी

चाहिए। हलके से सुझाया कि कुछ करना चाहिए। कवि पीछे खिन्न हो सकते हैं कि हम लोगों के आते ही उन्हें सूचना क्यों नहीं दी गई। यदि जानें कि हम बाहर व्यर्थ प्रतीक्षा में खड़े रहे तो उन्हें कष्ट हो सकता है। इस अन्याय से उन्हें बचाना चाहिए। अपने लोगों की आतुर स्तब्धता मुझे समझ न आ रही थी। मैंने जरा कदम बढ़ाया कि चार डग भरकर दरवाजे पर पहुंचकर कहूँ कि बाहर हिन्दी के अभ्यागत आ गए हैं। कठिनाई से एक कदम रखा होगा कि कवि दरवाजे से बाहर आए। धीमे और स्थिर कदम कन्धे जरा आगे को झुके हुए बदन शुभ्र ढीली पोशाक नीचे घुटने से लटकी धोती। पाँव में विद्यासागरी चप्पल।

कुछ देर स्तब्ध असमञ्जस रहा। कवि बढ़ते हुए आए। कुरसी के पास तक आ गए तब हम लोगों ने बारी बारी से बढ़ कर चरणस्पर्श किए।

वह कुरसी पर बैठ गए। और बनारसीदास चतुर्वेदी ने सब का परिचय कराया। बात हँसी खुशी के साथ मुक्तभाव से लहराती-सी चलने लगी। कवि हिन्दी समझ लेते थे लेकिन बोलते अंग्रेजी में जो हम सब समझ पाते थे। हिन्दी के बारे में उन्होंने कहा क्या आप यह नहीं चाहते कि हिन्दी के निकट मैं किसी राष्ट्रीय कर्तव्य की प्रेरणा से नहीं बल्कि स्वतः रस-लाभ और आनन्द लाभ की दृष्टि से आया हूँ। राष्ट्रभाषा तो है पर आप हिन्दी वालों को इतने से सन्ताप क्या हो जाना चाहिए? संख्या के बल पर उसे नहीं टिके रहना है। रस और आनन्द की उपलब्धि के लिए जब आप ही लोग खिंचेंगे तब उसका मान स्वप्रतिष्ठ मानना चाहिए।

कहते समय उनकी दृष्टि किसी विशेष की ओर नहीं होती थी। अधिकांश नीचे को देखते थे या किसी प्रश्न पर प्रश्नकर्ता की ओर निगाह उठी तो आँखें मानो थोड़ा मुस्कराकर वहाँ से हट जाती थीं। अपनी कहानी सुनाते हुए कहने लगे मेरी तो विवशता थी। बँगला की परम्पराएँ बनी तो थीं नहीं, बन रही थीं। पर संस्कृत का भण्डार भरा था ही। इससे हम झट उसका सहारा ले लेते थे। वहाँ शब्द का जहाँ अन्त वहाँ उनकी थाह पर हिन्दी में तो इतना सन्त साहित्य पड़ा है! अनेक देशज शब्द हैं या संस्कृत से आकर बन सँवर गए हैं। हिन्दी तो उस सम्पदा से भरपूर है। वह अधिक लोक-सुलभ हो सकती है।'

बनारसीदास जी ने कहा कि लेखकों को कुछ सन्देश दीजिए। किंचित् असमंजस में रहकर बोले लिखने में लेखक को साफ होना चाहिए—सादा

और सीधा। अंग्रजी के शब्द थे Straight Simple & Direct

मैं तल्लीनता से सुन रहा था। बोला आपने डायरेक्ट कहा और सिम्पल भी। आप की भाषा तो अलङ्कृत लगती है और गूढ। सीधी कहाँ ? उसमें तो फेर और पेंच दीखते हैं।'

यह मैंने क्या किया ? जैसे भारी पाप किया हो। धृष्टता और असह्य क्या होगा। सामने बनारसीदास जी अकुला आए। उनकी आंखों में मानो मेरे लिए लज्जा थी और भर्त्सना।

मुंह से बात निकल तो गई पर मैं बेहद सहम आया। मेरा बचपन ही रहा होगा। कवि के प्रति मेरा मन आस्था और सम्मान से भरा था। अनास्था का कहीं कण भी न था। इसलिए वह भूल थी। इसलिए वह भूल थी तो व्यवहार की ही थी और किसी और की त्रुटि न थी।

जान पड़ा कि बनारसीदास जी भर्त्सना का भाव अन्दर ही रोक कर नहीं रह सकते। उन्होंने फटकार में कुछेक शब्द कह भी। स्पष्ट था कि समुदाय के अन्य जन भी उनसे असहमत नहीं हैं। लेकिन तभी सब असमञ्जस और द्विधा को काटती हुई कवि की वाणी उठी। एक एक शब्द स्पष्ट था। स्वर स्थिर और गति मन्थर। बोले 'Yes I want you not to follow me I want you to follow one I want you to follow yourself" (हाँ, मैं नहीं चाहता कि आप मेरा अनुकरण करें या अनुकरण किसी का भी करें। अनुकरण करना है आपको तो अपना।)

कहते समय किसी विशेष की ओर नहीं देख रहे थे। चेहरे पर सचाई और सलग्नता थी। मैं उसमें सब उत्तर पा गया। कहीं उन शब्दों में आत्म-समर्थन न था न आत्मरक्षा का प्रयत्न था और न आत्म व्याख्या का प्रयत्न था। किंचित भी रोष की ध्वनि न थी। वाणी की उस सलग्नता पर सहसा औरों का विभाव भी शान्त हुआ।

याद है इसके बाद हल्की फुल्की बातचीत हो आई। मैं बार-बार उनके चेहरे को देखता था। भाल पर रेखाएँ थीं फिर भी कहीं से वह कुंचित न था कान्तिमान था। चेहरा सर्वथा निर्दोष प्रतीत हुआ मानो मनुष्य से अधिक देव मुनि का हो। भव्यता इतनी नितान्त निर्दोष हो सकती है। सहसा यह विश्वसनीय न जान पड़ता था। हठात् मैं मानता था कि कहीं कुछ मिश्रण होना ही चाहिए। इतनी

निर्दोषता—मनुष्याकृति सहज वहन कैसे कर सकती है ? किंतु चेहरे को बारीकी से देखकर भी त्रुटि वहाँ कहीं मैं धर नहीं पाता था। सोचा चेहरे के निम्नाध में ही न हो कुछ मिलावट हो सकती है और दाढ़ी उस हम से बचाए रखती है। सत्व तो अकेला होता नहीं रजस और तमस भी साथ होता है। प्रकृति तभी बनती है लीला अन्यथा सम्भव नहीं। किंतु कृष्ण ने गीता में कहा, निस्त्रगुण्यो भवार्जुन'। तो क्या निस्त्रगुण्यता वहाँ है ? मानो मैं आशा से उस चेहरे पर बार बार खोजता और बार बार निराशा पाता रहा। त्रिगुणात्मिका प्रकृति को प्रतीति में लाना सहज है। निस्त्रगुण्य कल्पनीय ही है, सहज प्रत्यय आनेवाली वस्तु नहीं। मैं नहीं मान सकता था कि वह देवता है क्योंकि मनुष्य होना उससे बड़ी बात है। देवत्व सहज कमनीय है। पुरुषत्व पुरुषार्थ द्वारा ही साध्य है। इससे मैं देवता नहीं चाहता था। पर समस्त देवोपमता के अतिरिक्त कुछ मिल ही न रहा था

मुलाकात खत्म हो गई। कवि उठकर हमारा नमन स्वीकार कर आशीर्वाद देते हुए हम से मुड़े और हम लोग भी वापस हो लिए। अब बाधा न थी। और चतुर्वेदी जी ने मुझे आड़े हाथों लिया। मेरी निगाह में वह चेहरा था जो बात करते समय नीचे देखता था पर जो मैं जानता था कि अन्तर आँखों से सब देखता था।

मुझे याद नहीं पड़ता कि फिर मैंने किसी बात का कुछ जवाब दिया। चार-एक दिन हम वहाँ रहे। समारोह और खुले सभास्थलों में उन्हें देखा। बोलते तो ध्यान मानो भृकुटियों के मध्य आ केन्द्रित होता और दृष्टि नासाग्र पर स्थिर जैसे अन्तरंग में से बोलते हों और अपेक्षतया अपने ही प्रति बोलते हों। सदा वही लीन और तद्गत मुद्रा।

उसके अतिरिक्त उस अवसर की एक ही बात का और ध्यान है। जाने वर्ष का कौन सा विशेष दिवस था कि वहाँ आस पास के आदिवासी संथाल लोग मेले में जमा हुए। यूथ के यूथ संथाल स्त्री और पुरुष शान्ति निकेतन के खुले मैदान में नृत्य क्रीड़ा आमोद प्रमोद में वर्ष सार्थक करने वहाँ एकत्रित हुए थे। विशेष कुतूहल न था। अनायास ही वहाँ पहुँच गया था। रात के दस से ऊपर हो चुके थे। पास उजेला था और चाँदनी बिछी थी। मानो उत्सव का अभी तो आरम्भ मुहूर्त ही था। रात बीतती गई और उत्सव मध्याह्न पर आता गया। रात का बारह हो आया। अनेक अनेक टोलियाँ व्यूह बद्ध होकर लय-ताल से नृत्य कर रही थीं। अर्धचन्द्राकार में नवयौवनाओं की पाँत हिलोर सी लेती और सामने से चग

और मदग थाम चार पाच युवकों का समूह धूम मचाता सा उनकी ओर आता और आता नहीं कि पीछे फिर जाता। जाने क्या नशा था आज भी मैं उसको समझ नहीं सकता हूं। मैं सिल की तरह वहीं वहां खड़ा रह गया। आज भी वह दृश्य भूलता नहीं है। बारह के बाद कब एक हो गया दो भी हो गया पता ही न चला। देखा कि सामने की टोली विश्राम के लिए तनिक बिखरी है। नवागताए पात से टूटकर हँसी ठठोली करती एक दुक हो गई। तब सरदी का पता चला। पता चला कि ऋतु शीत है। कपड़ा कम है। चांद ढला चाहता है। तीन के ऊपर समय हो रहा होगा। इस चेत म चल तो दिया, लेकिन विभोरता सहसा टूटती न थी और जगह पर आकर लेटने पर भी नीद से पहले और नींद के सपनो म उन तरुणियों का नत्य रह रहकर दीखता रहा।

रवीन्द्रनाथ की भव्यता और सथाला की अनगढ़ता म सादृश्य चाहे न हो पर दोनों स्मृतियाँ साथ अंकित हुई और साथ ही रहती आई है और मैं तो हठात मान लेता हूँ कि उनम विषमता नहीं है। दोनों म ही प्रकृति की अकुरित स्वीकारता है और उस महामाया की भाव भगिमा के साथ लयलीनता।

—इस भेंट के समय तक आपने लिखना तो शायद प्रारम्भ ही कर दिया था?

—हाँ, उस सन '३० म ही मेरी पहली पुस्तक 'परख' निकली थी और रविठाकुर स मिलकर लौट ही रहे थे कि रास्ते म बनारसीदास जी ने अखबार खोला और बताया कि उसे एकडमी-पुरस्कार मिला है। मेरे लिए यह अनोखी चीज थी क्योंकि मैं बेहद अनाड़ी था। तीर्थ लाभ के प्रसग का ही यह अभिनन्दन हो गया।

—रविठाकुर से आपकी यह अन्तिम मुलाकात थी या इसके बाद भी उनसे मिलने का अवसर आया?

—बाद म भी मिलना हुआ। मुझे याद है तब गरमी के दिन थे। मुलाकात करीब ढाई बजे हुई। हम लोग (साथ श्री हजारीप्रसाद द्विवेदी थे) शायद सिर पर तौलिया डाल गए। कवि बरामदे म बठे थे। बाहर सरकण्डा का परदा पड़ा था। सामने खुली बड़ी मेज थी। वह बैठे मूढ़े पर थे जिसम पीठ न थी। सीधे मानो ध्यानस्थ, एकाग्र सामने कागज फैला चित्रकारी कर रहे थे। दूर स देखने पर जो राजसी विलास का मण्डन कवि के चारो ओर मालूम होता था पास से जान पड़ा कि उसका रहस्य क्या है। मालूम हो गया कि कीमत सस्ती वस्तु नहीं है। महग

मोल ही उसे उपार्जित किया जा सकता है। सब सिद्धि के नीचे तप है। जो तब दीखा वह अब भी याद है। मानो उस व्यक्ति के लिए विराम और विश्राम कहीं नहीं है—अजस्र और निरंतर तप ही उस भाग। हर भले आदमी का यह विश्राम का समय था। मानो ऊपर की तपती घाम आदमी को यही कहती है, पर उसके उत्तर में नीचे की ओर से भी क्षमा ही दारुण और प्रखर तप भेजा जा सकता है, इसका अनुमान बहुतों को न होगा। पर तप ही सत्य है। सृष्टि तप से चलती है। और अगर ऊपर सूरज है तो नीचे भी कुछ आदमी सूरज हुआ करते हैं। तभी सृष्टि कायम है और धरा रसातल नहीं जा पाती है।

मन में प्रश्न हुआ कि क्या इन्हें समय का पता नहीं है? आतप के ताप का पता नहीं है? आसपास सब तरह की असुविधा का पता नहीं है? पता लगा कि जैसे सचमुच ही इन सब बातों का इस सामने बैठे साधक को पता नहीं है। पसीना आता है और अगर वह बहुत हो जाता है तो अनायास पोंछ लिया जाता है, अतिरिक्त उसकी चिन्ता नहीं है।

देखकर मैंने मन ही मन बहुत-सी बातों को समझ लिया (सुनते हैं पीछे गांधी जी ने गुरुदेव को कहा कि दिन में घण्टा भर अवश्य नींद ले लिया करें तो गुरुदेव ने कहा कि कैसे लूं। नींद कभी मुझे दिन में आई नहीं है, आती नहीं है।') समझ सका कि कुछ है बहुत गहरे में, कुछ विरह है जो चैन नहीं लेने देता। आस्तिक होकर सोना क्या?'' विरही भूत स्नेह सतत इस पुरुष को जगाए रखता है। इसमें निष्क्रिय कैसे हुआ जाय। अनवरत क्रिया में ही निष्कृति है। अहरह जप, अहरह सृष्टि।

उसी समय मेरा 'सुनीता' उपन्यास निकला था। भाई हजारीप्रसाद जी ने गुरुदेव से कहा कि आप के 'घरे बाहरे' की 'सुनीता' के साथ तुलना की गई है। गुरुदेव ने दिलचस्पी के साथ ऊपर देखा। मैंने कहा कि क्या आप का अभिप्राय यह है कि घर और बाहर के बीच रेखा रहनी चाहिए। किंचित विरोध और वैमुख्य। घरे बाहरे का सदीप मानो बाहर की ओर से प्रहार है। घर के अन्तरंग को उससे अपने को बचाए रखना है। बाहर बहिर्गत और बहिष्कृत ही रहे। अन्तः स्वीकृत होने देना मानो विपदा मोल लेना है। क्या वस्तुस्थिति और 'घरे-बाहरे' की परिणति यही है? इच्छा थी कि पूछूं कि सदीप को क्या 'लुब्धक अहेरी' का सा रूप देकर आपने यही जतलाना चाहा है?

रवि बाबू बगला म बोले। आखें बन्द हो आइ। चेतना माना सूघनस्थ हो रही। चेहरा निर्विकार और तल्लीन। जस हिमगिरि से भागीरथी फूटी हो। पहले अनायास और नीरव फिर शनै शनै द्रुत और उच्छलित। भाषा वह शब्दा की न थी मानो उसस अधिक मूत और सचित्र हा। मैं बगला नही जानता था पर मरे अज्ञान को भेदकर उस भाषा का भाव मुझे मिलता गया। उस दृश्य को भूल नही सकता। हिमालय के शृङ्गो और उपत्यकाआ से कसा जाह्नवी बहती हागी जसे उनके मुग्व स नाना भगिमाआ के साथ वाग्धारा निगत हुई। नाना छन्द और लय उसम समाहित जान पडे। कभी अवरोह म शान्त और सौम्य, कभी आरोह म दप्त और तप्त। मानो जो कह रहे हा, व द आखा स देख भी रहे हा। कहत कहत भाल पर कभी रेखाएँ सिमट आती और हाथा की मुट्ठिया बँध आती कि क्षण म मुस्कराहट खिली दीखती।

उनके कहन का भाव था कि पश्चिम से एक दस्यु वत्ति का प्रवेश हुआ है। वह बल को जानती है वह स्फीत है और दुर्दान्त। वह आखेट के लिए निकली है। माना सब उसकी भूख के लिए भोज्य ह। यही उसके होने की साथकता है कि वह भोग म आए। दर्पोद्धत यह दस्युता प्रभुता बनना चाहती है पर मानव-संस्कृति क्षण के लिए भूल अन्त म चेतगी। वह भ्रष्ट न होगी नष्ट न होगी। अन्त म आत्मलाभोन्मुख होगी। मदीप म वही दस्यु-वत्ति है। उस परास्त और पराजित होना है।

इत्यादि भाव अनाव रगो से माना उन शब्दो की छटा म से फूटकर इन्द्र धनुष की भाँति उस समय छा गया था। उस वाक् प्रवाह को छुआ नही जा सकता, रोका नही जा सकता था यहाँ तक कि पूरी तरह हृदयगम भी नही किया जा सकता था। मानो उसकी शोभा का साक्षी होना ही सम्भव था। वह कहत गए कहत गए। मैं उनके चहरे की ओर देखता रहा। एक स्निग्धता-सी लिखी दीखती थी। ऐसे आध घण्टे स ऊपर हो गया हो तो अचरज नही। शनै शनै विराम आया। जसे सगीन समाप्त तो हुआ हो पर मूछना भरी हो। उन्होन आख खोली और हमारी ओर दखा।

वह प्रवचन ही मेरा अन्तिम दशन रहा पर वह अविस्मरणीय है।

—रवि बाबू का जन्म एक आभिजात कुल मे हुआ था और उनका पालन पोषण भी उसी वातावरण मे हुआ। आपको उनके व्यक्तित्व और साहित्य मे इस

विशेषता का कितना आभास मिला ?

—इसका आभास तो उनकी रचनाओं में यहाँ से वहाँ तक सब तरफ मिलता है। व्यक्तित्व से भी अनायास वह मिलता था लेकिन मैं इतना मानता हूँ कि आभिजात्य पाकर यद्यपि वह उसमें रहे फिर भी भीतर ही भीतर उनकी चेष्टा रही कि वह उसे उतारकर अलग कर सकें। ऐसा हो नहीं पाया, लेकिन इससे अभिलाषा और चेष्टा का मूल्य कम नहीं होता। यही साबित होता है कि आदत बड़ी ताकत है। इसी से उसे दूसरा स्वभाव मान लिया जाता है।

—आपने कहा कि उनकी रचनाओं में सब तरफ आभिजात्य मिलता है किन्तु अपने व्यक्तित्व में से वह उसे हटाने की चेष्टा कर रहे थे। क्या साहित्य में ऐसा प्रयत्न उन्होंने नहीं किया ?

—प्रयत्न यदि व्यक्तित्व में रहे तो साहित्य में झलक आने से कैसे बचेगा ? वह कविता क्या आपको याद है कि ईश्वर को तू कहाँ खोजता है। सब कहीं से लौटकर खोज उस कविता में अन्त में धरती में पसीना डालने मेहनती पर पहुँचती है और वहाँ मानो ईश-तत्त्व की उपस्थिति मिलती है। ऐसे स्थल उनकी कृतियों में और भी अनेक हैं। जहाँ मानो विशिष्टता से उतरकर साधारणता में रम जाने की अभीप्सा व्यक्त हुई है।

—रवीन्द्रनाथ की कविता में जो रहस्यवादी भावना है उसमें विशिष्टता से उतरकर साधारणता की ओर जाने की अभीप्सा तो नहीं दिखाई देती ?

—वहाँ तो समाज के साधारण और विशिष्ट—दोनों ही पीछे छूट जाते हैं। सामाजिक आभिजात्य वहाँ संगत ही नहीं रहता। वहाँ निवेदन और निवेदन है। मानो अहम् वहाँ दीप शिखा के धुएँ की भाँति प्रार्थना में ऊर्ध्वमित हो ऊपर उठता उठता शून्य में विलीन हो जाता है। यह प्रक्रिया साधारणीकरण से विरोधी नहीं है बल्कि उसको परिपूर्णता देने वाली कही जा सकती है।

—हिन्दी कविता पर उनकी रहस्यवादी कविता का जो प्रभाव पड़ा, उसे आप कहाँ तक संगत मानते हैं ?

—प्रभाव तो अनिवार्य था। कुछ प्रभाव वह है जो आत्मसात् होकर प्रकटा, वह तो इष्ट। फिर कुछ प्रभाव ऐसा भी देखा गया और अब तक देखा जाता है जिसने सीधे अनुकरण का पक्ष पकड़ा। उसको इष्ट कहना कठिन है।

—रवीन्द्र के दार्शनिक विचारों पर श्री राधाकृष्णन सर्वपल्ली ने 'फिलासफी

आफ रवीन्द्रनाथ' पुस्तक लिखी है। इसी तरह कई आलोचक और विद्वान उन्हें दार्शनिक मानते हैं।—क्या उनका कोई विचार दर्शन ऐसा था जिसके आधार पर उन्हें मूलतः दार्शनिक कहा जा सके ?

—नहीं, वह कवि थे। दर्शन था यदि उनका तो कवि का था। इससे छायामय हो सकता था। पुष्ट दर्शन के लिए निषेध आवश्यक है। निषेध उनमें पर्याप्त से कम है। देखिए उनके चेहरे को, वस्त्राच्छादन को, रहन सहन को, मानो सबका रहन देन और समाय रखने की उदारता है। कपड़े परिमाण से अधिक ढीले और आवश्यकता की मात्रा से काफी अधिक। साथ उनके गांधी की याद कीजिए। और कल्पना में लाने की कोशिश कीजिए उन रवीन्द्रनाथ को जिनका सिर घुटा हो और घुटने खुले हों। कल्पना पछाड़ खा रहेगी और बढ़ न सकेगी। गांधी भी दार्शनिक न थे महात्मा थे। यों समझिए कि कवि और महात्मा के अधबीच दार्शनिक होता है। कवि का स्वधर्म भिन्न है और रवीन्द्रनाथ उसमें अभिन्न थे। ध्यान में लीजिए वह कविता, जहाँ कवि कहते हैं कि मुक्ति उनके लिए नहीं है। इन्द्रियों के निरोध में बल्कि इन्द्रियों के भोग में से ही उन्हें उसे पा लेना है। इसमें सहसा दर्शन की दृढ़ता दीखनी हो पर निस्सन्देह यह वृत्ति कवि की उपलब्धि है।

—यह तो आप मानते ही हैं कि रवीन्द्र की कविता का प्रभाव हिन्दी-कविता पर पड़ा। क्या इसी प्रकार हिन्दी कथा साहित्य पर भी उनका प्रभाव पड़ा है ?

—पड़ा तो है पर कथा रचना में भी रवीन्द्र कवि हैं। और कहानी घटनावलम्बी होने के कारण साम्प्रतिकता से कुछ अधिक दूर होकर नहीं चलती। यह युग का वेग तो आप देखते ही हैं। युग गति में परिवर्तन हो रहा है। इसलिए कहानी पर पड़ा उनका प्रभाव अब उसकी काया पर उतना देखने में नहीं आता।

—कहते हैं कि आपके उपन्यासों पर—विशेषतः सुखदा पर रवीन्द्रनाथ के उपन्यासों—विशेषतः 'घरे बाइरे' का कुछ प्रभाव है ?

—कैसे कहूँ कि कहने वालों की बात गलत है। अपने पर पड़े प्रभावों को छाटकर अलग अलग करना मेरे लिए सम्भव नहीं है। प्रभाव तो अनन्त अवकाश है और अनादि इतिहास का भी है इसलिए अपने ऋण और कृतज्ञता का विभक्त करके क्या बाटूँ। अविभक्त रूप में उसे ईश्वर के प्रति देकर मानता हूँ कि सब वही करता और कराता है। मुझमें कुछ नहीं हो पाता। कारण वही तो है, उससे बाहर होने का बच क्या जाता है ?

—उपन्यासकार के रूप में रवीन्द्रनाथ आपको ज्यादा अच्छे लगे या कवि के रूप में ?

—उनका रूप तो कवि का है। उपन्यास में भी वह बिगड़ता नहीं है। हां, उपन्यासकार से इधर जगत को जो अपेक्षा हो चली है वह कविता से नहीं है। इस तरह याद तो वह कवि के रूप में ही किए जाएंगे।

—रवीन्द्रनाथ ने अपने उपन्यासों में अनेक सामाजिक और राजनीतिक समस्याओं पर डाइरेक्ट और इन्डाइरेक्ट रूप से अपने विचार व्यक्त किए हैं क्या उन्हें पढ़कर ऐसा लगता है कि वह किसी एक मतवाद के पोषक थे ?

—मुझे तो ऐसा नहीं लगता। मतवाद वृत्ति की भांति एक बंद और चौकस वस्तु होती है ? रवीन्द्र अपने लिखने में मुझे खुले प्रतीत हुए। मतवाद मनुष्य की सहानुभूतियों पर सीमा डालता है। प्रति मत के लिए या उसके वादी या अनुयायी के लिए पर्याप्त सहानुभूति अमुक मतवादी में रह नहीं पाती। वह सूख जाती है और हरियालापन नष्ट हो जाता है। उसकी जगह एक शुष्कता, कर्कशता और कट्टरता जमने लगती है। क्या वैसा आभास रवीन्द्रनाथ की कृतियों में आप देख पाते हैं ? शायद नहीं।

—चाहे उनमें शुष्कता और कर्कशता न हो किन्तु उनमें अपने कुछ विचारों के प्रति कट्टरता अवश्य थी। जैसे ब्रह्म समाज का समर्थन और फासिज्म का विरोध आदि। क्या इसे आप कट्टरता मानेंगे ?

—'गोरा' में जो प्रचलित हिन्दुत्व का प्रबल समर्थन है उसमें क्या हृदय की ऊष्मा भी उनकी ओर से नहीं आ मिली है ? और फासिज्म के जिस विरोध को आप कट्टर कहते हैं मैं उसे दृढ़ कहता हूँ। कट्टर इसलिए नहीं कि गाली के जवाब में गाली नहीं है और दृढ़ इसलिए कि वह अदम्य है। टूट वह इसीलिए नहीं सकता कि उसमें लचक है। सहन की शक्ति का प्रमाण वह लचक है। सख्ती में सहनशक्ति नहीं होती। इससे उसकी मजबूती ऊपरी है। कठोर को अन्त में टूटना ही होना है।

—भारतीय-साहित्य की परम्परा में रवीन्द्रनाथ की सबसे बड़ी देन आप क्या मानते हैं ?

—प्रकृति की स्वीकृति। प्रकृति में अन्तर बाह्य—दोनों ही रूप सम्मिलित मानिए। शिक्षा में उन्होंने देखा कि बौद्धिकता विशेष है, रागात्मकता पर्याप्त

नहीं। विज्ञान से हम वस्तु को और विषय को पकड़ना चाहते हैं। भावना का हार्दिक सम्बन्ध इसमें दुर्बल पड़ जाता है। प्रकृति के साथ सामञ्जस्य उसका क्षीण होता है। शान्ति निकेतन की स्थापना के मूल में मानो अभाव-सम्बन्धी यही भावानुभूति काम कर रही थी। वहां पक्के कमरों में भी बल्कि वन-वायु और लता-वृक्ष की निकटता में—शिक्षा लेना और देना मान्य किया। पेड़ों की छांह में अथवा खुली धूप में अध्यापक विद्यार्थी बैठते और सीखते। मानो यह सीखना जीवन से कोई अलग व्यापार न था। शिक्षा और लीला की बीच की खाई उन्हें समझ न आई। कला और क्रीडा के साथ उसका योग हुआ। इस सब में वही मूल तत्त्व देखता हूँ। अर्थात प्रकृति की स्वीकृति।

फिर उनके उपन्यासों और निबन्धों को देखिए। 'चार अध्याय' में क्या है? 'घर और बाहर' में क्या है? मानो मनुष्य की अहम्मन्यता में से निकली हुई निषेध वृत्ति का प्रतिरोध और प्रतिक्रमण है। हठपूर्वक जयी और जेता ने चाहा कि वह अपने स्नेह को अस्वीकार करेगा लेकिन रवीन्द्रनाथ ने बताया कि यह व्यर्थ चेष्टा है। इसमें पराजय निश्चित है और शुभ है। मनुष्य की जय सन्धि में है सामञ्जस्य में है विग्रह और वैषम्य में नहीं है। व्यक्ति की स्पर्धा को निखिल के समक्ष उन्होंने सदा परास्त दिखाया है। मानो मानव-दम्भ मानव हीनता का ही परिचायक है और मानव-सम्पूर्ति प्रेमार्पित उसके आकिंचन्य में ही है। यह उनकी सदेन मुझे तो उनकी रचनाओं में स्पष्ट मुखरित दीखती है और अपने शब्दों में मैं उस अन्त प्रकृति की अकुण्ठित स्वीकृति कहना चाहूँगा।

इससे यह स्पष्ट हो कि इसी प्रकार राष्ट्रीय अथवा सामयिक उपयोगिता के प्रश्नों से उन्हें जोड़े रखना न्याय न होगा। प्रासंगिक रूप से वे तो आते ही हैं और समाधान की दिशा की सूचना भी पाई जा सकती है। कारण यह कि मानव सम्बन्ध और उनकी पारस्परिकता तो वह है जिन पर उनके आत्म चित्र उतरते हैं। उस लाभ को तो आनुषंगिक कहना चाहिए। मूल लगन तो कृतिकार की उस तत्त्व की शोध के प्रति है जो एक में नहीं है अनेक में नहीं है बल्कि सब में है। और एक एक की भाषा में लें तो केवल परस्परता में है। वही मर्म है, वही सत्य है। वह अखण्ड भी है और अमर है। काल में वह विभक्त नहीं है और शाश्वत है। उसके प्रति मानव-व्यक्ति का सम्बन्ध अनिवार्यतया विभोर भक्ति का हो रहता है। स्नेह और प्रेम का सघन और निस्स्व रूप ही भक्ति है। इसलिए

अम्माँ ने पूछा—कौन बाबा जी ?

बालक ने कहा—हाँ मैं जानता हूँ। पार साल जो होली पर थे नहीं, वही बाबा जी। मैं सब जानता हूँ। अम्माँ, वह कब आएँगे ?

उस समय मैंने उसे डपट कर कहा—जाओ नीचे बालकों में खेलो।

इस पर वह बालक मुझसे भी पूछ उठा—बाबूजी बनारस वाले बाबा जी आने वाले हैं ? वह कब आयेंगे ?

मैंने और भी डपटकर कहा—मुझे नहीं मालूम। जाओ तुम खेलो।

बालक चला तो गया था। हो सकता है कि नीचे खेला भी हो लेकिन इस तरह उस पार साल के होली के दिन की याद के छिड़ जाने से मन की तकलीफ बढ़ गई।

पत्नी मेरी ओर देखती रहीं मैं उनकी ओर देखता रहा। बोल कुछ सूझता ही न था आखिर काफी देर बाद वह बोली—तुम बनारस कब जाओगे ? मैं भी ज़रूर चलूँगी।

मैंने इतना ही कहा कि देखो—

बात यह थी कि पार साल इसी होली के दिन प्रेमचन्द जी नीम की सींक से दाँत कुरेदते हुए धूप में खाट पर बैठे थे। नाश्ता हो चुका था और पूरी निश्चिन्तता थी। बदन पर धोती के अलावा बस एक बनियान थी जिसमें उनकी दुबली और साल पीली देह छिपती न थी। वक्त साढ़े नौ का होगा। ऐसे ही समय होली वालों का एक दल घर में अनायास घुस आया और बीसियों पिचकारियों की धार से और गुलाल से उस दल ने उनका ऐसा सम्मान किया कि एक बार तो प्रेमचन्द जी भी चौंक गए। पलक मारने में वह सो सिर से पाँव तक नई रंग के पानी से भीग चुके थे। हड़बड़ाकर उठे क्षण इक रुके स्थिति पहचानी, और वह कहकहा लगाया कि मैं अब तक याद है। बोले—अरे भाई जनेन्द्र हम तो मेहमान है।

मैंने आगत सज्जनों से जिसमें आठ बरस के बच्चों से लगाकर पचास बरस के बुजुर्ग भी थे परिचय कराते हुए कहा—आप प्रेमचन्द जी हैं।

यह जानकर सब लोग बहुत प्रसन्न हुए।

प्रेमचन्द जी बोले—भाई, अब तो खैर है न। या कि अभी जहमत बाकी है ?

लेकिन इस दिन खरियत का भरोसा क्या कीजिए। और होली के दिन का।

तो और भी ठिकाना नहीं है।"

इस पर प्रेमचन्द जी ने फिर कहकहा लगाया। बोले—तो कौन कपड़े बदल। हम तो यही बैठन हैं खाट पर कि आए जो चाहे।

सच यकीन करना मुश्किल होता है कि वह दिन अभी एक बरस पहले था और प्रेमचन्द जी अब नहीं हैं। फिर भी प्रेमचन्द जी तो नहीं ही हैं। इतन दूर हो गए हैं कि जीन जो उन्हें नहीं पाया जा सकता। इस सत्य को जसे चाह हम समझें, चाहे तो उसके प्रति विद्रोही ही बन रहें पर किसी भी उपाय से उसे अन्यथा नहीं कर सकत।

[दो]

छुटपन से प्रेमचन्द जी का नाम सुनता देखता आया हूँ। यह नाम कुछ कुछ इस तरह मन में बस गया था जसे पुराण पुरुषों के नाम। मानो वह मनोलोक के ही वासी हैं। सदेह भी वह हैं और इस कर्म-कलाप-संकुलित जगत में हम-तुम की भांति कर्म करते हुए जी रहे हैं—ऐसी सम्भावना मन में नहीं होती थी। बचपन का मन था, कल्पनाओं में से रस लेता था। उन्हीं पर पल भूलकर वह पक रहा था। सन २६ में 'गबन', या सन '२७ में 'रंगभूमि' हाथ पड़ी। तभी चिपटकर उस पढ़ गया। तब कदाचित एक ही भाग मिला था वह भी दूसरा। पर उससे क्या। प्रेमचन्द जी की पुस्तक थी और शुरू करने पर छूटना दुष्कर था। उस पढ़ने पर मेरे लिए प्रेमचन्द जी और भी बाध्यता से मनोलोक के वासी हो गए।

पर दिन निकलते गए और इधर मेरा मन भी पकता गया। इधर उधर की सूचनाओं से बोध हुआ कि प्रेमचन्द जी लेखक ही नहीं हैं और आकाशलोक में ही नहीं रहते, वह हम-तुम जसे आदमी भी हैं। यह जानकर प्रसन्नता बढ़ी यह तो नहीं कह सकता। पर यह नया ज्ञान विचित्र मालूम हुआ और मेरा कुतूहल बढ़ गया।

सन '२६ आते-आते मैं अकस्मात कुछ लिख बठा। या कहिए कि अघटनीय ही घटित हुआ। जिस बात से सबसे अधिक डरता रहा था—यानी, लिखना—वही सामने आ रहा। इस अपने दुस्साहस पर मैं पहले पहल तो बहुत ही संकुचित हुआ। मैं, और लिखूं—यह बहुत ही अनहोनी बात मेरे लिए थी। पर विधि पर किसका बस। जब मुझ पर यह आविष्कार प्रकट हुआ कि मैं लिखता हूँ तब यह ज्ञान भी मुझे था कि वही प्रेमचन्द जी पूरी 'रंगभूमि' को अपने भीतर से प्रगट

कर सकते हैं वही प्रेमचंद जो लखनऊ से निकलने वाली 'माधुरी' के सम्पादक हैं। सो कुछ दिनों बाद एक रचना बड़ी हिम्मत बाँधकर डाक से मैंने उन्हें भेज दी। लिख दिया कि यह सम्पादक के लिए नहीं है, कथावर्ती प्रेमचन्द के लिए है। छापे में आने योग्य तो मैं हो सकता ही नहीं हूँ पर लेखक प्रेमचन्द उन पंक्तियों को एक निगाह देख सकें और मुझे कुछ बता सकें तो मैं अपने को धन्य मानूँगा। कुछ दिनों के बाद वह रचना ठीक ठीक तौर पर लौट आई। साथ एक कार्ड भी मिला जिस पर छपा हुआ था कि यह रचना धन्यवाद के साथ वापस की जाती है। यह मेरे दुस्साहस के योग्य ही था फिर भी मन कुछ बैठने-सा लगा। मैं उस अपनी कहानी को तभी एक बार फिर पढ़ गया। आखिरी स्लिप समाप्त करके उसे लौटाता हूँ कि पीठ पर फीकी लाल स्याही में अंग्रेजी में लिखा है— Please ask if this is a translation जाने किस अन्वय पद्धति से यह प्रतीति उस समय मेरे मन में असंदिग्ध रूप में भर गई कि हो न हो ये प्रेमचन्द जी के शब्द हैं, उन्हीं के हस्ताक्षर हैं। उस समय मैं एक ही साथ मानो कृतज्ञता से नहा उठा, मेरा मन तो एक प्रकार से मुर्झा ही चला था लेकिन इस छोटे से वाक्य ने मुझे संजीवन दिया। तब से मैं खूब समझ गया हूँ कि सच्ची सहानुभूति का एक कण भी कितना प्राणदायक होता है और हृदय को निर्मल रखना अपने आपमें कितना बड़ा उपकार है।

पर मैंने न प्रेमचन्दजी को कुछ लिखा न माधुरी को लिखा। फिर भी तब से अलक्ष्य भाव से प्रेमचन्द जी के प्रति मैं एक ऐसे अनिवार्य बंधन से बँध गया कि उससे छुटकारा न था।

कुछ दिनों बाद एक और[1] कहानी मैंने उन्हें भेजी। पहली कहानी का कोई उल्लेख नहीं किया। यह फिर लिख दिया कि लेखक प्रेमचन्द की उस पर सम्मति पाऊँ यही अभीष्ट है छपने लायक तो वह होगी ही नहीं। उत्तर में एक कार्ड मिला। उसमें दो-तीन पंक्तियों से अधिक न थीं। स्वयं प्रेमचन्द जी ने लिखा था— प्रिय महोदय दो (या तीन) महीने में माधुरी का विशेषांक निकलने वाला है। आप की कहानी उसके लिए चुन ली गई है।

इस पत्र पर मैं विस्मित होकर रह गया। पत्र में प्रोत्साहन का, बधाई का,

---

१ अंधों का भेद।

प्रशसा का एक शब्द भी नही था। लेकिन जो कुछ था वह ऐसे प्रोत्साहनो से भारी था। प्रेमच द जी की अ त प्रकृति की झलक पहली ही बार मुझे उस पत्र म मिल गई। वह जितने सद्भावनाशील थे उतने ही उन सदभावनाओ के प्रदशन म सकोची थ। नकी हो तो कर दना, पर कहना नहीं—यह उनकी आदत हो गई थी। मैंन उस पत्र को कई बार पढा था और मैं दग रह गया था कि यह व्यक्ति कान हो सकता है जो एक अनजान नये क प्रति इतनी बडी दया का, उपकार का काम कर सकता है फिर भी उसका तनिक भी श्रेय लेना नही चाहता। अगर उस पत्र के साथ कृपा भाव (Patronisation) से भरे वाक्य भी होत तो क्या बजा था। लेकिन प्रेमच द वह व्यक्ति था जो उससे ऊचा था। उसन कभी जाना ही नही कि उसन कभी उपकार किया है या कर सकता है। नेकी उससे होती थी, उसे नेकी करन की जरूरत न थी। इसलिए वह ऐसा व्यक्ति था जिससे बदी नही हो सकती।

लेकिन मैं तो तब बच्चा था न। अपने को छपा देखन का उतावला था। लिखा— अगर वह कहानी छपन योग्य है तो अगले अक मे ही छपा दीजिए। विशेषाक क लिए और भेज दूगा।

उत्तर आया—'प्रिय महोदय, लिखा जा चुका है कि वह कहानी विशेषाक के लिए चुन ली गई है उसी म छपगी।

इस उत्तर पर मैं उसके लेखक की ममताहीन सद्भावना पर चकित होकर रह गया। अब भी मैं उसका याद कर विस्मय स भर जाता हूँ। मुझे मालूम होता है कि प्रेमचन्द जी की सबस घनिष्ट विशेषता यही है। यही साहि य मे खिली और फली है। उनके साहित्य की रग रग म सम्भावना व्याप्त है। लेकिन भावुकता म वह सद्भावना किसी भी स्थल पर कच्ची या उथली नही हो गई। वह अपने म समाई हुई है छलक-छलक नही पडती। प्रेमचन्द का साहित्य इसीलिए पर्याप्त कोमल न दीखे पर ठोस है और खरा है। उसके भीतर भावना की अडिग सचाई है। व्यक्ति म व्यक्तित्व की एक सहज दुबलता है दया। दयावान दूसरे को दयनीय मानता है तभी दया कर सकता है। उसमे दम्भ भी आता है। प्रेमचन्द इस बात को समझत थ और वह शायद ही कभी वहा तक नीच गिरे। सचाई तक ही उठने की कोशिश करत रहे।

उसके बाद अचानक उनका एक पत्र आया। लिखा था—'त्यागभूमि'

तुम्हारी कहानी[1] पढ़ी। पसन्द आई। बधाई।

इस पत्र से तो जस एकाएक मुझ पर वज्र गिरा। मन की सम्भावना कस किसी को भीतर तक भिगोकर कोमल कर सकती है उसे अपने अपदार्थ होने का भान करा सकती है, यह तब से मैं समझने लगा हूं। उस पत्र से मेरा दिल तो बढ़ा ही लेकिन सच पूछो तो वही भीतर कठोर बन कर जमा हुआ मेरा अहंकार उस पत्र की चोट से बिलकुल बिखर गया और मैं मानो एक प्रकार के सुख में रो रो आया।

अहंकार आत्म के बचाव का जरिया (A measure of self defence) है। वह अपनी हीनता के दबाव से बचने के प्रयत्न का स्वरूप है। उसमें व्यक्ति अपने में ही उभरा हुआ दीखना चाहता है। प्रयास यह अयथार्थ है। जब हम अपनी हीनता दूसरे के निकट स्वीकार लेते हैं उसे निवेदन कर देते हैं तब अहंकार व्यर्थ होकर सहसा ही बिखर जाता है। तब एक निर्मल गर्व का भाव होता है जिसका हीनता बोध से सम्बन्ध नहीं होता। वह अहंकार से बिलकुल ही और वस्तु है।

प्रेमचन्द जी के उस पत्र के नीचे मैंने अपने को कृतार्थ भाव से हीन स्वीकार किया और मैंने उसको प्रेमचन्द जी का आशीर्वाद ही माना। उस समय किसी भी प्रकार मैं उसको अपनी योग्यता का सार्टिफिकेट नहीं मान सका। फिर भी आशीर्वाद का पात्र बन सका यही गर्व क्या मेरे लिए कम था! मैंने पाया है गुरुजनों का आशीर्वाद मन के कार्पण्य को कल्मष को धोता है। पर उस आशीष के रूप में ही ग्रहण करना चाहिए। अन्यथा वही शाप भी हो सकता है।

उसके बाद से पत्र व्यवहार आरम्भ हो गया। फिर जो कहानी[1] भेजी उसको प्रकाशन के लिए अस्वीकार करते हुए उन्होंने खुलकर लिखा—कहानी में यह होना चाहिए कहानी ऐसी होनी चाहिए। मेरी धृष्टता देखो, कि मैंने शंका की कि, कहानी में क्यों यह होना चाहिए और क्यों कहानी ऐसी ही होनी चाहिए। छोटे मुंह बड़ी बात करते मुझे शर्म आनी चाहिए था पर प्रेमचन्द जी ने जरा भी वह शर्म मेरे पास न आने दी। इतना ही नहीं, बल्कि मुझे तो यह मालूम होता

---

१ परीक्षा। २ आतिथ्य।

है कि उस प्रकार की निलज्ज शका के कारण तो मानो और भी उन्होने मुझे अपने पास ले लिया। शकाओं के उत्तर में एक प्रकार से उन्होने यह भी मुझे सुझाया और याद रखने को कहा कि मुझे मिला तो न मानना। कहानी हृदय की वस्तु है, नियम की वस्तु नहीं है। नियम हैं और वे उपयोगी होने के लिए हैं। हृदय के दान में जब वे अनुपयोगी हो जाय तब बेशक उन्हे उल्लघनीय मानना चाहिए। लेकिन—। उनका जोर इस अंतिम 'लेकिन' पर अवश्य रहता था। नियम बदलेंगे, वे टूटेंगे भी पर इस 'लेकिन' से सावधान रहना होगा। प्रेमचन्द जी इस 'लेकिन' की ओर उससे आगे की जिम्मेदारी स्वय न लेकर मानो निर्णायक के ऊपर ही छोड देते थे। मानो कहते हों— उधर बहुत खतरा है बहुत खटका है। मेरी सलाह तो यही है यही होगी कि उधर न बढा जाय। फिर भी कोई बढना चाहता है तो वह जाने उसका अन्त करण जाने। कौन जाने कि मुझे खुशी ही हो कि कोई है तो, जो खतरा देखकर भी (या ही) उधर बढना चाहता है।' कई बार उन्होने कहा— जैनेन्द्र, हम समाज के साथ हैं समाज में हैं। यह इस भाव से कहा है कि मानो कहना चाहते हों कि— जो हीन-दृष्टि इतना तक नहीं देखती उसे तक में पडने की अपनी ओर से मैं पूरी छुट्टी देता हूं।'

[तीन]

इस भाँति दूर दूर रहकर भी चिट्ठी पत्री द्वारा परस्पर का अपरिचय बिलकुल जाता रहा था। कुम्भ के मेले पर इलाहाबाद जाना हुआ। वहाँ प्रेमचन्द जी का जवाब भी मिल गया। लिखा था— अमीनुद्दौला पार्क के पास लाल मकान है। लौटते वक्त आओगे ही। जरूर आओ।

सन ३० की जनवरी थी। खास जाडे थे। बनारस से गाडी लखनऊ रात के कोई ४ बजे ही जा पहुँची थी। अँधेरा था और शीत भी कम न थी। ऐसे वक्त अमीनुद्दौला पार्क के पास जाना, लाल मकान मिल तो जायगा ही, पर मुमकिन है असुविधा भी कुछ हो। लेकिन दर-असल जो परेशानी उठानी पडी उसके लिए मैं बिलकुल तैयार न था।

क्या मैं जानता न था कि मैं प्रेमचन्द जी के यहाँ जा रहा हूँ ? जी हाँ वही जो साहित्य के सम्राट हैं घर घर जिनके नाम की चर्चा है उनके-से मशहूर आदमी हैं कितने ! मैं जानता था और बडी खुशी से हर किसी को जतलाने को उत्सुक था कि मैं उनके उन्ही के यहाँ जा रहा हूँ।

लेकिन मैं अपने को कितना भी ज्ञानी जानता होऊँ, और अखबार में छपने लायक दो एक कहानियाँ भी लिख चुका होऊँ, पर यह जानना मुझे बाकी था कि मैं कितना भूला भोला—कितना मूढ़ हूँ। महत्ता के साथ मेरे दिमाग में जसे अगले कदम पर ही महल आ जाता था। जो महल में प्रतिष्ठित नहीं है, क्या ऐसी भी कोई महत्ता हो सकती है? पर मुझे जानना शेष था कि महल और चीज है, महत्ता और चीज है। उन दोनों में कोई बहुत सगा सम्बन्ध नहीं है। महत्ता मन से बनती है महल पत्थर का बनता है। अतः इन दोनों तत्त्वों में मित्रता अनिवार्य नहीं। किन्तु इस तत्त्वज्ञान से मैं तब तक सर्वथा शून्य था।

पाँच बजे के लगभग अमीनुद्दौला पार्क की सड़क के बीचोबीच आ खड़ा हो गया हूँ। सामान सामने निजन एक दुकान के तख्ते पर रखा है। इक्का दुक्का शरीफ आदमी टहलने के लिए आ जा रहे हैं। मैं लगभग प्रत्येक से पूछता हूँ—जी माफ कीजिएगा। प्रेमचन्द जी का मकान आप बतला सकते हैं? नजदीक ही कहीं है। जी हाँ प्रेमचन्द।

सज्जन विनम्र कुछ सोच में पड़ गए। माथा खुजलाया बोले—प्रेमचन्द! कौन प्रेमचन्द?

'जी वही आला मुसन्निफ। नावेलिस्ट। वह एडिटर भी तो हैं साहब। मशहूर आदमी हैं।

'ऐं ऐं फि र म च न्द!' और सज्जन विनीत असमंजस में पड़कर मुझसे क्षमा माँग उठे। क्षमा माँग, विदा ले छड़ी उठा मुझे छोड़ वह अपनी सैर पर चल गए।

उस सड़क पर ही मुझे छः बज आए। साढ़े छः भी बजने लगे। तब तक दर्जन सज्जनों को मैंने क्षमा किया। लगभग सभी को मैंने अपने अनुसंधान का लक्ष्य बनाया था। लेकिन मेरे मामले में सभी ने अपने को निपट असमर्थ प्रकट किया। मैं उनकी असमर्थता पर खीझ तक भी तो न सका क्योंकि वे सचमुच ही असमर्थ थे।

आस पास मकान कम न थे और लोग भी कम न थे। और जहाँ मैं खड़ा था, वहाँ से प्रेमचन्द जी का मकान मुश्किल से बीस गज निकला लेकिन उस रोज मुझे सभ्रान्त श्रेणी से प्रेमचन्द जी तक के उस बीस गज के दुर्लंघ्य अन्तर को लाँघने में काफी देर लगी। और क्या इसे एक संयोग ही कहूँ कि अन्त में जिस

व्यक्ति के नेतत्व का सहारा थामकर मैं उन बीस गजा को पार कर प्रेमच द जी के घर पर आ लगा वह कुलशील की दष्टि से समाज का उच्छिष्ट ही था ?

मैंने अचानक ही उससे पूछा था—भाई, प्रेमचन्द जी का घर बता सकते हो ?

उसने कहा—मुशी प्रेमचन्द ?

किन्तु मैं किसी प्रकार क मुशीपन की माफत तो प्रेमचन्द जी को जानता न था। मैंने कहा—अच्छा, मुशी ही सही।

'वह तो है यह कहकर वह आदमी उठा और मेरे साथ बतान चल दिया। मैंन कहा—ठहरो जरा सामान ले लू। वह व्यक्ति इस पर मेरे साथ साथ आया, बिना कुछ कहे सुन मेरे हाथ से सामान उसन ले लिया। और प्रेमचन्द जी क मकान के जीने के आग उस रखकर बोला—घर यह है। अब गुहार लो।

मैंन आवाज दी। वह आवाज इस योग्य न रही होगी कि दूसरी मजिल पर चढकर द्वार दीवार लाँघती हुई भीतर तक पहुँच जाय। इसलिए उस व्यक्ति ने तत्पर होकर पुकारा—बाबू जी ! बाबू जी !

थोडी देर बाद जीने क ऊपर स आवाज आई—कौन साहब हैं ?

मैं जैनेन्द्र।'

'आओ भाई।'

[चार]

जीने क नीचे स झाँकने पर मुझ जो कुछ ऊपर दीखा उससे मुझे बहुत धक्का लगा। जो सज्जन ऊपर खड़े थे उनकी बडी घनी मूछें थी, पाँच रुपये वाली लाल-इमली की चादर ओढे थ जो काफी पुरानी और चिकनी थी, बालो ने आग आकर माथे को कुछ ढक सा लिया था और माथा छोटा मालूम होता था। सिर जरूरत से छोटा प्रतीत हुआ। मामूली धोती पहने थे जो घुटनों स जरा नीचे तक आ गई थी। आँखों म खुमारी नही दीखी। मैंन जान लिया कि प्रेमचन्द यही हैं। इस परिणाम से बचने का अवकाश न था। प्रेमचन्द जानकर मेरे मन को सुख उस समय नहीं हुआ। क्या जीन जो प्रेमचन्द इनको ही मानना होगा ? इतनी दूर से इतनी आस बाँध कर क्या इन्ही मूर्ति के दशन करने मैं आया हूँ ? एक बार तो जी म आया कि अपने मन म असली रमणीक प्रेमचन्द क प्रति आस्था कायम रखनी हो तो मैं यहाँ स लौट ही क्यो न जाऊ ? प्रेमचन्द के नाम पर यह समाने

खड़ा व्यक्ति साधारण इतना स्वल्प इतना देहाती मालूम हुआ कि—

इतने में उस व्यक्ति ने फिर कहा—आओ भाई, आ जाओ।

मैं एक हाथ में बक्स उठा जीने पर जो चढ़ने लगा कि उस व्यक्ति ने झपट कर आकर उस बक्स को अपने हाथ में ले लेना चाहा। बक्स तो खैर मैंने छीनने न दिया लेकिन तब वह और दो एक छोटी मोटी चीजों को अपने हाथ में थामकर जीने से मुझे ऊपर ले गए।

घर सुव्यवस्थित नहीं था। आँगन में पानी निरुद्देश्य फैला था। चीजें भी ठीक अपने-अपने स्थान पर नहीं थीं। पर पहली निगाह ही यह जो कुछ दीखा, दीख सका। आगे तो मेरी निगाह इन बातों को देखने के लिए खाली ही नहीं रही। थोड़ी ही देर में मैं भूल चला कि यह तनिक भी पराई जगह है। मेरे भीतर की आलोचना-शक्ति कुछ देर में मुरझा सोई।

सब काम छोड़ प्रेमचन्द जी मुझे लेकर बैठ गए। सात बज गए साढ़े-सात बज गए आठ होने आए बातों का सिलसिला टूटता ही न था। इस बीच मैं बहुत कुछ भूल गया। यह भूल गया कि यह प्रेमचन्द हैं हिन्दी के साहित्य सम्राट हैं। यह भी भूल गया कि मैं उसी साहित्य के तट पर भौंचक खड़ा अनजान बालक हूँ। यह भी भूल गया कि क्षण भर पहले इस व्यक्ति की मुद्रा पर मेरे मन में अप्रीति अनास्था उत्पन्न हुई थी। देखते-देखते बातों बातों में मैं एक अत्यन्त घनिष्ट प्रकार की आत्मीयता में घिर कर ऊपरी सब बातों को भूल गया।

उस व्यक्ति की बाहरी अनाकर्षकता उस क्षण से जाने किस प्रकार मुझे अपने आप में सार्थक वस्तु जान पड़ने लगी। उनके व्यक्तित्व का बहुत कुछ आकर्षण उसी अ-कोमल आन-बान में था। अपने ही जीवन इतिहास की वह प्रतिमा थे। उनके चेहरे पर बहुत कुछ लिखा था जो पढ़ने योग्य था। मैं सोचा करता हूँ कि बादाम की मीठी गिरी के लिए उस गिरी की मिठास के लिए उस मिठास की रक्षा के लिए क्या यह नितांत उचित और अनिवार्य नहीं है कि उसके ऊपर का छिलका खूब कड़ा हो। मैं मानता हूँ कि उस छिलके को कड़ा होने का अवकाश वैसी सुविधा न हो तो बादाम को कभी बादाम बनने का सौभाग्य भी नसीब न हो।

इस जगह आकर प्रेमचन्द की मेरी अपनी काल्पनिक मूर्तियाँ जो अतिशय छटामयी और प्रियदर्शन थीं एकदम ढह कर चूर-चूर हो गई और मुझे तनिक भी

दुःख नही होने पाया। माया सत्य के प्रकाश पर टूट बिखरे तो दुःख कैसा। आते ही एक डेढ घण्टे के करीब बातचीत हुई और फलत प्रेमचन्द के प्रति मेरी आत्मा इतनी पुष्ट हो गई कि उसके बाद किसी भी वेशभूषा म रग रूप म वह उपस्थित क्या न होते अकुंठित भाव स उनके चरण छुए बिना मैं न रहता।

मैं यह देखकर विस्मित हुआ कि आधुनिक साहित्य की प्रवृत्ति से वह कितने घनिष्ट रूप म अवगत हैं। योरोपीय साहित्य म जानने योग्य उन्होंने जाना है। जानकर ही नही छोड दिया, उसे भीतर से पहचाना भी है और फिर परखा और तौला है। वह अपने प्रति सचेत हैं Consistent हैं स्वनिष्ठ हैं।

मैंने कहा—बगाली साहित्य हृदय को अधिक छूता है—इससे आप सहमत हैं ? तो इसका कारण क्या है ?

प्रेमचन्द जी ने कहा—सहमत तो हूँ। कारण, उसमें स्त्री भावना अधिक है। मुझ मे वह काफी नही है।

सुनकर मैं उनकी ओर देख उठा। पूछा—स्त्रीत्व है, इसी से वह साहित्य हृदय को अधिक छूता है ?

बोले—हाँ तो। वह जगह-जगह Reminiscent (स्मरणशील) हो जाता है। स्मृति म भावना की तरलता अधिक होती है, सकल्प म भावना का काठिन्य अधिक होता है। विधायकता के लिए होना चाहिए—

कहते-कहते उनकी आँखें मुझसे पार कही देखने लगी थी। उस समय उन आँखो की सुर्खी एकदम गायब होकर उनम एक प्रकार की पारदर्शी नीलिमा भर गई थी। मानो अब उनकी आँखो के सामने जो हो, स्वप्न हो। उनकी वाणी म एक प्रकार की भीगी कातरता बजने लगी। वह स्वर मानो उच्छ्वास म निवेदन करता हो कि मैं कह तो रहा हूँ पर जानता मैं भी कुछ नही हू। शब्द तो शब्द हैं तुम उन पर मत रुकना। उनके अगोचर म जो भाव ध्वनित होता हो उसी म पहुच कर जो पाओगे पाओगे। वहाँ पहुँचो हम-तुम पर रुको नहीं। राह म जो है बाधा है। लाँघते जाओ लाँघते जाओ। उल्लघित होने म ही बाधा की सार्थकता है।

बोले—जैनेन्द्र मुझे कुछ ठीक नहीं मालूम। मैं बगाली नही हू। व लोग भावुक हैं। भावुकता म जहाँ पहुँच सकते हैं वहाँ मेरी पहुँच नही। मुझम उतनी देन कहाँ ? भार से जहाँ नहीं पहुँचा जाता वहाँ भी भावना म पहुँचा जाता है।

वहा भावना स ही पहुँचा जाता है। लेकिन जने द्र मैं सोचता हूँ काटिय भी चाहिए—

यहकर प्रेमच द जस कन्या की भाँति लज्जित हो उठ। उनकी मूछें इतनी घनी थी कि वेहर । उनम सफेद बाल तब भी रह होग। फिर भी मैं कहता हूँ वह कन्या की भाँति लज्जा म घिर गए। बोले—जनेन्द्र रवी द्र, शरत् दानो महान् हैं। पर हि दी क लिए क्या वही रास्ता है, शायद नही। हि दी राष्ट्रभाषा है। मरे लिए तो वह राह नही हा है।

उनकी वाणी म उस समय स्वीकारोक्ति (Confession) ही बजती मुझे सुन पडी। गर्वोक्ति की तो वहाँ सम्भावना ही न थी।

बाता का सिलसिला अभी और भी चलता लेकिन भीतर स खबर आई कि अभी डाक्टर क यहां स दवा तक लाकर नही रखी गई है ऐसा हो क्या रहा है। दिन कितना चढ गया क्या इसकी भी खबर नही है?

प्रमच द अप्रत्याशित भाव स उठ खडे हुए। बाले—जरा दवा ले आऊँ जने द्र। देखा, बाता म कुछ ध्यान ही न रहा।

कहकर इतने जार से कहकहा लगाकर हसे कि छत के कोना म लग मकडी के जाले हिल उठे। मैं तो भौचक रहा ही। मैंने इतनी खुली हसी जीवन म शायद ही कभी सुनी थी।

बाले—और तुम भी तो अभी नीच नही गये होग। वाह, यह खूब रही! और हँसी का वह कहकहा और भी द्विगुणित वेग से घर भर म गूज गया। अनतर मेरे देखत देखत लपककर स्लीपर पहने आले म स शीशी उठाई और उन्ही कपडा दवाई लेने बाहर निकल गये।

मरे मन पर प्रेमच द क साक्षात्कार की पहली छाप यह पडी कि यह व्यक्ति जो भी है उसस तनिक भी अ यथा दीखने का इच्छुक नही है। इस अपने महत्त्व या दूसरा क सम्मान म आसक्ति नही है। इस व्यक्ति को अपने सम्ब ध म इतना ही पता है कि कोटि कोटि आदमिया के बीच म वह भी एक आदमी है। उससे अधिक कुछ होने का या पाने का वह दावेदार न बनेगा। मानवोचित सम्मान का हकदार वह है और बस उसस न कम न ज्यादा।

उन दिना अपन सरस्वती प्रेस, काशी स 'हस' निकालने का निश्चय हो रहा था। मैंने पूछा कि प्रस छोडकर, अपने गाँव का घर छोडकर, यहाँ लखनऊ म

नौकरी करें, एसी क्या आपके साथ काई लाचारी है ?

उनस यह मेरी पहली मुलाकात थी। हमम कोई समानता न थी। मरा यह प्रश्न घष्टतापूण समझा जा सकता था। लेकिन मैंने कहा न कि पहले ही अवसर पर उनके प्रति मैं अपनी सब दूरी खो बैठा था। मैं लाख छोटा हाऊँ पर प्रेमचन्द जी इतने बड़े थ कि अपनी उपस्थिति म वह मुझे तनिक भी अपन तइ हीन अनुभव नही हाने देते थ। प्रश्न के उत्तर म निस्संकोच और अकुंठित भाव से अपनी आर्थिक अवस्था अथवा दुरवस्था सब कह सुनाई। तब मुझे पता चला कि यह प्रेमच द जो लिखत है वह केवल लिखते ही नही है उसको मानत भी है उस पर जीत भी हैं। असहयोग म उ होने नौकरी छोड दी थी। कुछ दिना तो वह 'असहयोग' ही एक काम रहा। फिर क्या करें ? कुछ दिना कानपुर विद्यालय म अध्यापकी की। फिर काशी विद्यापीठ म आए। आन्दोलन तब मध्यम पड गया था। सोचन लग कही ऐसा ता नही है कि मैं और मरा वतन विद्यापीठ पर बोझ हो रहा है। इस तरह के सोच विचार म उसे भी छोड दिया। अब क्या करें ?

क्यो मैंन कहा—आपके हाथ म तो कलम थी। फिर प्रश्न कैसा कि क्या करें ?

नही जनेन्द्र यह बोल—तुम्हारा ख्याल ठीक नही है। यह मुल्क विलायत नहीं है। विलायत हा जाय, यह भी शायद मैं नही चाहता।

फिर बताया कि लिखने पर निभर रहकर काम नही चलता। मन भी नही भरता खच भी पूरा नही होता। तबियत बेचन हो जाती है। फिर किन किन हालतों म से गुजरना पडा यह भी सुनाया। आखिर यहाँ-वहाँ से कुछ पूजी बटोरकर प्रेस खोला। पर बाजारवाला से निपटना न आता था। प्रेस एक गले मा कौर बन गया जा न निगला जाय न उगलते ही बन। अपना लेना पट नही, देनदारा को दना सा पडे ही। एसी हालत मे प्रेमच द जी जस यक्ति की गति अकथनीय हो गइ। और कुछ न सूझा ता प्रेस म ताला डाल घर बठे रहे। प्रेस न चल तो न पर जान को कब तक घुलाया जाय ? पर ऐसी हालत म पसे का अभाव ही चारा ओर दीखन लगा। ओर उस अभाव स घिरकर तबियत घुटन लगी।

अब बताओ जनेन्द्र वह बोल—क्या अब भी नौकरी न करता ? अब यह है कि रोटी तो चल जाती है। प्रेस प्रवासीलाल चलाते हैं। और बोल कि प्रेस से एक मासिक पत्र निकालना तय किया है 'हस । क्या राय है ?

मैंने पूछा—क्यों तय किया है ?

'प्रेस का पट भरना है कि नहीं। छपाई का काम काफी नहीं आता और फिर हमारा यह साहित्य का शुगल भी चलता रहेगा।'

मैंने कहा—अच्छा तो है।

बोले—'हंस' को कहानियों का अखबार बनाने का इरादा है। उम्मीद तो है कि चल जाना चाहिए। ईश्वरीप्रसाद जी को जानते तो हो न ? नहीं ? खैर शाम को 'हंस' का कवर डिजाइन लाएँगे। जिन्दादिल आदमी हैं मिलकर खुश होगे। कहानियों का एक अखबार हिन्दी में हो इसका वक्त आ गया है। क्या ?

'हंस' के सम्बन्ध में उनको मिथ्या आशाएँ न थीं, पर वह उत्साहशील थे। समारम्भ को लेकर वह उस समय नवयुवक की भाँति अपने को अनुभव करते थे।

पहली मुलाकात में मैं वहाँ ज्यादा देर नहीं ठहरा। सबेरे गया, शाम को चल दिया। लेकिन इसी बीच में प्रेमचन्द जी की अपनी निजता और आत्मीयता पूरी तरह प्रस्फुटित होकर मेरे सामने आ गई।

[पाँच]

खाना खा पीकर बोले—जैनेन्द्र चलो दफ्तर चलते हो ?

मैं चलने को उद्यत था ही। जिस ढंग से उन्होंने इक्केवाले को पुकारा, उसको पटाया, इक्के में बैठते बैठते उसके कुशल क्षेम की भी कुछ खबर ले ली जिस सहजभाव से उन्होंने उससे एक प्रकार की अपनी समकक्षता ही स्थापित कर ली—वह सब कहने की यह जगह शायद न हो लेकिन मेरे मन पर वह बहुत ही सुन्दर रूप में अंकित है।

रास्ते में एकाएक बोले—कहो जैनेन्द्र, सामुद्रिक शास्त्र के बारे में तुम्हारी क्या राय है ?

मैंने पूछा—आप विश्वास करते हैं ?

बोले—क्या बताऊँ लेकिन दफ्तरी एक दोस्त हैं, अच्छा हाथ देखना जानते हैं। भाई उनकी बताई कई बातें ऐसी सही बैठी हैं कि मैं नहीं कह सकता यह सारा शास्त्र पाखण्ड है।

मैंने कहा—तो आप विश्वास करते हैं ? मैं तो कभी नहीं कर पाया।

बोले—इतने लोग इतने काल से ईमानदारी के साथ इस ओर अनुसंधान

म लगे रहे हैं उनके परिणामों की हम अवज्ञा कर सकते हैं ?

मुझे यह सुनकर विस्मय हुआ। मैंने कहा—तो विश्वास करना ही होगा ? आप परमात्मा में जो विश्वास नहीं करते हैं।

प्रेमचन्द जी गंभीर हो गये। बोले 'जैनेन्द्र, मैं कह चुका हूँ मैं परमात्मा तक नहीं पहुँच सकता। मैं उतना विश्वास नहीं कर सकता। कैसे विश्वास करूँ, जब देखता हूँ, बच्चा विलख रहा है रोगी तड़प रहा है। यहाँ भूख है क्लेश है, ताप है। वह ताप इस दुनिया में कम नहीं है। तब उस दुनिया में मुझे ईश्वर का साम्राज्य नहीं दीखे तो यह मेरा कसूर है ? मुश्किल तो यह है कि ईश्वर को मानकर उसे दयालु भी मानना होगा। मुझे वह दयालुता नहीं दीखती। तब उस दयासागर में विश्वास कैसे हो। जैनेन्द्र तुम विश्वास करते हो ?

मैंने कहा—उससे बचने का रास्ता मुझे कहीं नजर नहीं आता।

प्रेमचन्द जी मौन हो गये। उनकी आँखों की पुतलियाँ स्थिर हो गई और कहीं दूर गड़ गई। उस मग्न मौन की गम्भीरता ऐसी थी कि हम सब उसमें दब ही जायें।

आफिस पहुँचकर उन मित्रों को मेरा हाथ दिखलाया गया। उन्होंने काफ़ी युक्तिपूर्ण बातें कहीं। मेरे लिए दुष्कर था कि कह डालूँ कि जो कुछ बताया गया वह गलत है। आफिस से लौटते वक्त प्रेमचन्द जी ने पूछा—कहो जैनेन्द्र, अब क्या कहते हो ?

मैंने कहा—सामुद्रिक शास्त्र पर मेरी आस्था की बात पूछते हो ? वह ज्यों-की त्यों है यानी दृढ़ नहीं हुई।

यह बात सुनकर जैसे प्रेमचन्द जी को दुःख हुआ। दूसरों के अनुभव ज्ञान की यह उपेक्षा अवज्ञा ही प्रतीत हुई। प्रेमचन्द जी के मन में यों मूलतत्त्व—अर्थात् ईश्वर के सम्बन्ध में चाहे अनास्था ही हो लेकिन मानव जाति द्वारा अर्जित वैज्ञानिक हेतुवाद पर और उसके परिणामों पर उनको पूरी आस्था थी। असम्मान उनके मन में नहीं था। वह कुछ भी हों कट्टर नहीं थे। दूसरों के अनुभवों के प्रति उनमें ग्रहणशील वृत्ति थी। धर्म के प्रति उपेक्षा और सामुद्रिक शास्त्र में उनका यथा किंचित विश्वास—ये दोनों वृत्ति उनमें युगपत देखकर मेरे मन में कभी कभी कुतूहल और जिज्ञासा भी हुई है, लेकिन मैंने उनके जीवन में अब तक इन दोनों परस्पर विरोधात्मक तत्त्वों को निभते देखा है। वह अत्यन्त सप्रश्न थे

कितु तभी अत्यत श्रद्धालु भी थ। कई छोटी छोटी बातो ज्यो की-त्यो मानत और पालते थे कई बडी बडी बातो म साहसी सुधारक थे।

उसी शाम रुद्रनारायण जी भी आए थे। टाल्स्टाय के लगभग सभी ग्रन्थ उ होने अनुवाद कर डाल थ। पर छ पने का कोई प्रकाशक न मिलता था। इतनी लगन और मेहनत अकारथ जा रही थी। छोटा मोटा प्रकाशक इस काम को उठाता तोकिस भरोस पर पर साधन सम्पन्न बडे प्रकाशक भी किनारा द रह थे। इस स्थिति पर प्रमच द भी खि न थे। उनका मन वहा था जहा साहित्य की असली नब्ज है। बाजार की यथाथताओ पर उनका मन मलिन हो आता था।

रात को जब चलने की बात आई तब बोल—तो आज ही तुम चल भी दोग ? मैं सोचे बठा था कुछ रोज ठहरोग।

उनके श दो म कोई स्पष्ट आग्रह नही था। आग्रह उनके स्वभाव म ही नही था। किसी क जाने आने की सुविधा व्यवस्था के बीच मे वह कभी अपनी इच्छाओ को नही डालते थ। किसी के काम म अडचन बनन से वह बचते थ। यहा तक कि लोगो स मिलते जुलत असमजस होता था कि कही मैं उनका हज न कर रहा होऊ। आज के कम-व्यस्त युग म यह उनक स्वभाव की विशषता बहुत ही मूल्यवान थी। चाहे साहित्य रसिको को यह थोडी बहुत अखरे ही।

[छ]

फिर सन '३० का राष्टीय आदोलन आ गया जिसम बहुत लाग जेल पहुच। इस बीच हस' निकल गया ही था। प्रेमच द जी उसके तो सपादक ही थ, इधर उधर भी लिखत थे, आदोलन म योग देत थ, और गबन' उप यास तयार कर रहे थे। यह भाग्य ही हुआ कि वह जेल नही गए। उनका जेल क बाहर रहना ज्यादा कठिन तपस्या थी। जेल म मैंने जो उनक पत्र पाए उनसे मैंने जाना कि प्रमच द जी म मैंने क्या निधि पाई है। आरम्भ म ही प्रेमच द जी ने सूचना दी—मरी पत्नी जी भी पिकटिंग के जुम म दो महीने की सजा पा गई हैं। कल फसना हुआ है। इधर प द्रह दिन स इसी म परेशान रहा। मैं जाने का इरादा ही कर रहा था पर उ होने खुद जाकर मरा रास्ता ब द कर दिया।

उनके पत्रा म हि दी साहित्य की विहगम आलोचना रहा करती थी कुछ अपन मन की और स्थिति की सुन-गुन की बातें रहा करती थी। एक पत्र म लिखा—

'गबन' अभी तैयार नहीं हुआ, अभी सौ पृष्ठ और होंगे। यह एक सामाजिक घटना है। मैं पुराना हो गया हूं और पुरानी शैली को निभाए जाता हूं। कथा को बीच से शुरू करना या इस प्रकार शुरू करना कि जिसमें ड्रामा का चमत्कार पैदा हो जाय, मेरे लिए मुश्किल है।'

मंगलाप्रसाद पारितोषिक पर लिखा—पुरस्कारों का विचार करना मैंने छोड़ दिया। अगर मिल जाय तो ले लूंगा पर इस तरह जैसे पड़ा हुआ धन मिल जाय। (अमुक) को या (अमुक) पा जायें मुझे समान हर्ष होगा।

आप लिखा—मैं तो स्कूल नहीं मानता। आपने ही एक बार प्रसाद स्कूल प्रेमचन्द स्कूल की चर्चा की थी। शैली में जरूर कुछ अन्तर है मगर वह अन्तर कहां है यह मेरी समझ में खुद नहीं आता। प्रसाद जी के यहां गम्भीरता और कवित्व अधिक है। Realist हममें से कोई भी नहीं है। हममें से कोई भी जीवन को उसके यथार्थ रूप में नहीं दिखाता बल्कि उसके वांछित रूप में ही दिखाता है। मैं नग्न यथार्थवाद का प्रेमी भी नहीं हूं।

× × ×

किसी को अपनाने का उनका तरीका ही अलग था। इस पत्र में मुझे अपनाया क्या बनाया ही गया है। पर सम्पादकीय रवादारी देखते ही बनती है। मैं तो इस पर पानी पानी होकर रह गया था। तिस पर यह कि पहली ही मुलाकात के बाद यह लिखा गया था—

'प्रिय जैनेन्द्र जी!

मैं थर थर कांप रहा हूं कि आप 'हंस' में पुस्तकों की आलोचना न पावेंगे तो क्या कहेंगे। मैंने आलोचना भेज दी थी। कह दिया था इसे अवश्य छापना। पर मैनेजर ने पहले तो कई लेख इधर उधर के छाप डाले और पीछे से स्थान की कमी पड़ गई। मेरी एक कहानी जो राष्ट्रीय रंग में थी, रह गई। आपकी कहानी भी रह गई। अब ये सब फरवरी अंक में जा रही है, क्षमा कीजिएगा।

'गबन' छप गया है। बाइंडिंग होते ही पहुंचेगा। उस पर मैं आपकी दोस्ताना राय चाहूंगा।

भवदीय
धनपत राय

× × ×

उनकी व्यावसायिक स्थिति और मानसिक चिन्ता का अन्दाज इस पत्र से कीजिए—

प्रिय जैनेन्द्र

तुम्हारा पत्र कई दिन हुए मिला। मैं आशा कर रहा था देहली (घर) से आ रहा होगा पर आया लाहौर (जेल) से। मगर लाहौर (जेल) मुलतान (जेल) से कुछ कम दूर है। उससे कई दिन पहले मुलतान मैंने एक पत्र भेजा था। शायद वह लौट कर आ गया हो या तुम्हें मिल गया हो। अच्छा मेरी गाथा सुनो। 'हंस' पर जमानत लगी। मैंने समझा था आर्डिनेंस के साथ जमानत भी समाप्त हो जायगी। पर नया आर्डिनेन्स आ गया और उसी के साथ जमानत भी बहाल कर दी गई। जून और जुलाई का अंक हमने छापना शुरू कर दिया है, पर मैनेजर साहब जब नया डिक्लेरेशन देने गये तो मैजिस्ट्रेट ने पत्र जारी करने की आज्ञा न दी, जमानत मांगी। अब मैंने गवर्मेंट को एक स्टेटमेंट लिखकर भेजा है। अगर जमानत उठ गई तो पत्रिका तुरत ही निकल जायगी। सब मैटर सिलकर तैयार रखी है। अगर आज्ञा न दी गई तो समस्या टेढ़ी हो जायगी। मेरे पास न रुपये हैं न प्रामिसरी नोट न सिक्योरिटी। किसी से कर्ज लेना नहीं चाहता। यह शुरू साल है चार पाँच सौ वी० पी० जाते कुछ रुपये हाथ आते। लेकिन वह नहीं होना है।

इस बीच मैंने 'जागरण' को ले लिया है। जागरण के बारह अंक निकले लेकिन ग्राहक संख्या दो सौ से आगे न बढ़ी। विज्ञापन तो व्यासजी ने बहुत किया लेकिन किसी वजह से पत्र न चला। उन्हें उस पर लगभग पन्द्रह सौ का घाटा रहा। वह अब बन्द करने जा रहे थे। मुझसे बोले यदि आप इसे निकालना चाहें तो निकालें। मैंने उसे ले लिया। साप्ताहिक रूप में निकालने का निश्चय कर लिया है। पहला अंक जन्माष्टमी से निकलेगा। तुम्हारा इरादा भी एक साप्ताहिक निकालने का था। यह तुम्हारे लिए ही सामान है। मैं तब तक इसे चलाता। फिर यह तुम्हारी ही चीज है। धन का अभाव है 'हंस' में कई हजार का घाटा उठा चुका हूं। लेकिन साप्ताहिक के प्रलोभन को न रोक सका। कोशिश कर रहा हूं कि सर्वसाधारण के अनुकूल पत्र हो। इसमें भी हजारों का घाटा ही होगा। पर करूं क्या। यहां तो जीवन ही एक लम्बा घाटा है। यह कुछ चल जायगा तो प्रेस के लिए काम की कमी की शिकायत न रहेगी। अभी तो मुझे ही पिसना पड़ेगा लेकिन आमदनी होने पर एक सम्पादक रख लूंगा। अपना काम

केवल एडिटोरियल लिखना होगा।

'कर्मभूमि' के तीन फार्म छप चुके हैं, अभी करीब छः फार्म बाकी हैं। अब उसे जल्द समाप्त करना है। सबसे पहले तुम्हारे पास भेजी जायगी और तुम्हारे ही ममतापूर्ण फैसले पर मेरी कामयाबी या नाकामी का निर्णय है।

इधर पण्डित श्रीराम शर्मा का 'शिकार', स्वामी सत्यदेव जी की कहानियों का संग्रह, डा० रवीन्द्रनाथ की 'गोरा' आदि पुस्तकें निकली हैं। बाबू वृन्दावनलाल जी का 'कुण्डली चक्र' बड़े शौक से पढ़ा। लेकिन पढ़कर मन उभरा नहीं। शर्मा नहीं मिली, न चुस्की, न लटक। शायद मुझमें भावनाशून्यता का दोष हो।'

× × × ×

एक उलहने का पत्र देखिए—

प्रिय जैनेन्द्र

आदाब अर्ज! भाई वाह! मानता हूँ। जून गया, जुलाई गया और अगस्त का मटर भी जाने वाला है। जुलाई बीच तक निकल जायगा। लेकिन हजूर को याद ही नहीं। क्यों याद आये। बड़े आदमी होने में यही तो ऐब है। रुपये तो अभी कहीं मिले नहीं। लेकिन यश तो मिल ही गया है। और यश के धनी क्या कुछ (कम) मगरूर और भुलक्कड़ होते हैं।

अच्छा, दिल्लगी छोड़ो। यह बात क्या है? तुम क्या मुझसे तने बैठे हो? न कहानी भेजते हो, न खत भेजते हो। कहानी न भेजो, खत तो भेजते रहो। मैं तो इधर बहुत परीशान रहा। याद नहीं आता अपनी कथा कह चुका हूँ। बेटी के पुत्र हुआ और उसे प्रसूत ज्वर ने पकड़ लिया। मरते-मरते बची। अभी तक अधमरी सी है। बच्चा भी किसी तरह बच गया। आज बीस दिन हुए यहाँ आ गई है। उसकी माँ भी दो महीने उसके साथ रही। मैं अकेला रह गया था। बीमार पड़ा। दाँतों ने कष्ट दिया, महीना उसमें लगे। दस्त आए और अभी तक कुछ-न-कुछ शिकायत बाकी है। दाँतों के दर्द में भी गया नहीं छूटा। बुढ़ापा स्वयं रोग है। और अब मुझे उसने स्वीकार करा दिया कि अब मैं उसके पंजे में आ गया हूँ।

काम की कुछ न पूछो। बहुत काम कर रहा हूँ। कहानियाँ केवल दो लिखीं हैं, उर्दू और हिन्दी में। हाँ, कुछ अनुवाद का काम किया है।

तुमने क्या कर डाला, अब यह बताओ। (वह प्रबन्ध) लिखा जाता है या नहीं। कोई नई चीज बन या रही है। बच्चा कैसा है, भगवतीदेवी कैसी हैं माता

जी कसो हैं ? महात्मा जी कसे हैं ? सारी दुनिया लिखने को पडी है, तुम खामोश हो !

'सरस्वती' म वह नोट तुमने देखा ? आज मालूम हुआ कि यह (अमुक) जी की दया है। ठीक है। मैं तो सर बूढा हो गया हूँ और जो कुछ लिख सकता था लिख चुका और मित्रो ने मुझे आस्मान पर भी चढा दिया। लेकिन तुम्हारे साथ यह क्या व्यवहार ! भगवतीप्रसाद बाजपेयी की कहानी बहुत सुदर थी। और इन (चतुरसेन) को हो क्या गया है कि 'इस्लाम का विष वृक्ष' लिख डाला। इसकी एक आलोचना तुम लिखो और वह पुस्तक मेरे पास भेजो। इस कम्युनल प्रापगेंडा का जोरो से मुकाबला करना होगा।'

उनकी कसी ही अवस्था हो पर साहित्य म कदय और कदथ का विरोध करने मे उन्हे हिचक न होती थी।

× × × ×

परिस्थितियो ने उन पर कभी रहम नही किया। प्रेमचद जी ने भी कभी उनसे रहम नही मागा। वह जूझते ही रहे। सारी उम्र इसी म गुजारी फिर भी नई विपत्तियो का सामना करते उन्हे डर न होता था। वह बचते न थे कत्तय से कतराते न थे। उन्हें पैसे का लोभ न था। हा घाटे का डर तो था ही। आमदनी चाहे कौडी न हो, पर ऊपर से घाटे का भूत तो मुह फाड कर खाने न दौडे। इतना ही चाहिए। पर इतना भी नही हुआ। इस घाटे ने उनकी कमर तोड दी। 'हस' चलाया जागरण चलाया। दोनो म भावना सेवा की भी थी। मैं कह सकता हूँ कि उनम व्यवसाय की भावना नही के बराबर थी। पर दोनो उनका मन और तन तो लेते ही रहे तिस पर उनसे धन भी मागते रहे। धन उनके पास देने और देते रहने को कहा था ! आखिर सिनमा की ओर से आए निमत्रण को उन्हे सुनना पडा। २० ४ ३४ को उन्होने पत्र लिखा—

'प्रिय जनेन्द्र

'तुम्हारा पत्र ऐन इन्तजार की हालत मे मिला। तुमसे सलाह करने की खास जरूरत आ पडी है। अभी न बताऊगा जब आओगे तभी उस विषय म बातें होगी। मगर तुम्हे क्या ससपेंस की हालत म रखू ? बम्बई की एक फिल्मी कम्पनी मुझे बुला रही है। वेतन की बात नहीं, कन्ट्राक्ट की बात है। ८ ०००) साल। मैं उस अवस्था को पहुँच गया हूँ जब मेरे लिए इसके सिवा कोई उपाय नहीं रह गया

है कि या तो वहा चला जाऊँ या अपने उपन्यास को बाजार में बेचू। मैं इस विषय म तुम्हारी राय जरूरी समझता हूँ। कम्पनी वाले हाजिरी की कोई कद नहीं रखते। मैं जो चाहू लिखू जहा चाहे लिखू, उनके लिए चार पाँच सिनेरियो तैयार कर दू। मैं सोचता हूँ कि मैं एक साल के लिए चला जाऊँ। वहाँ साल भर रहने के बाद कुछ ऐसा कन्ट्राक्ट कर लूगा कि मैं यही बैठे बैठे तीन-चार कहानिया लिख दिया करूँ और चार पाच हजार रुपये मिल जाया करें। उससे जागरण हस दोनो मजे म चलेंगे और पैसो का सकट जायगा। फिर हमारी दोनो चीजें घड़ल्ले से निकलेंगी। लेकिन तुम यहा आ जाओ तब कतई राय होगी। अभी तो मन दौडा रहा हूँ।

इसके कुछ ही दिन बाद दूसरा पत्र मिला—"भले आदमी मकान छोडा था तो डाकिए से इतना तो कह दिया होता कि मेरी चिट्ठयाँ फला पते पर भेज देना। बस बोरिया बकचा सँभाला और चल खडे हुए। मैंने तुम्हारे जवाब म एक बड़ा-सा डिटेल्ड खत लिखा था। वह शायद मुर्दा चिट्ठियो के दफ्तर म पडा होगा। (मैंने शायद तुम्हें लिखा है, कि) मुझे बम्बई कम्पनी बुला रही है। क्या सलाह है ? मुझे तो कोई हरज नही मालूम होता अगर वतन सात आठ सौ मिले। साल-दो साल करके चला आऊँगा। मगर मैंने अभी जवाब नहीं दिया है। उनके दो तार आ चुके है। प्रसाद जी की सलाह है 'आप बम्बई न जायें।' तुम्हारी भी अगर यही राय है तो मैं न जाऊँगा। जौहरी जी कहते हैं, जरूर जाइये। और विरसगिनी पण्डिता भी कहती है कि जरूर चलो। जीवन का एक यह भी अनुभव है।

आखिर फिल्मी लाइन म गए ही। लेकिन अनुभव ने बताया है कि वहा के योग्य वह न थे। फिल्म और प्रेमचन्द, दोनो म पटना सम्भव न हुआ। वहाँ से उन्होंने लिखा—

मैं जिन इरादो से आया था उनम एक भी पूरा होता नजर नही आता। ये प्रोड्यूसर जिस ढग की कहानिया बनाते आये हैं उस लीक से जौ भर नहीं हट सकते। Vulgarity का ये Entertainment Value कहते हैं। अदभुत ही इनका विश्वास है। राजा रानी, उनके मन्त्रियों के षड्यन्त्र नकली लडाई बोसेबाजी —ये ही उनके मुख्य साधन हैं। मैंने सामाजिक कहानियाँ लिखी हैं जिन्हें शिक्षित समाज भी देखना चाहे। लेकिन उनको फिल्म करते इन लोगो को सन्देह होता

हैं कि चलें या न चलें। यह साल तो पूरा करना है ही। कर्जदार हो गया था, कर्ज पटा दूंगा मगर और कोई लाभ नहीं। उपन्यास (गोदान) के अंतिम पृष्ठ लिखने बाकी हैं। उधर मन ही नहीं जाता। (जी चाहता है) यहाँ से छुट्टी पाकर अपने पुराने अड्डे पर जा बैठूँ। वहाँ धन नहीं है मगर सन्तोष अवश्य है। यहाँ तो जान पड़ता है जीवन नष्ट कर रहा हूँ।'

उनका एक फिल्म निकला था 'मजदूर'। उसका जिक्र करते हुए एक पत्र में लिखा—

'मजदूर तुम्हें पसन्द न आया। यह मैं जानता था। मैं इसे अपना कह भी सकता हूँ नहीं भी कह सकता। इसके बाद ही एक रोमांस जा रहा है। वह भी मेरा नहीं है। मैं उसमें बहुत थोड़ा-सा हूँ। मजदूर में भी इतना जरा सा आया है कि नहीं के बराबर। फिल्म में डाइरेक्टर सब कुछ है। लेखक कलम का बादशाह ही क्यों न हो यहाँ डाइरेक्टर की अमलदारी है। और उसके राज्य में उसकी हुकूमत नहीं चल सकती। हुकूमत मान तभी वह रह सकता है। वह यह कहने का साहस नहीं रखता मैं जनरुचि को जानता हूँ आप नहीं जानते। इसके विरुद्ध डाइरेक्टर जोर से कहता है, मैं जानता हूँ जनता क्या चाहती है। और हम यहाँ जनता की इसलाह करने नहीं आए हैं। हमने व्यवसाय खोला है धन कमाना हमारी गरज़ है। जो चीज जनता माँगेगी वह हम देंगे। इसका जवाब यही है— अच्छा साहब हमारा सलाम लीजिए। हम घर जाते हैं। वही मैं कर रहा हूँ। मई के अन्त में काशी में बन्दा उपन्यास लिख रहा होगा। और कुछ मुझमें नई कला न सीख सकने की भी सिफ्त है। फिल्म में मेरे मन को सन्तोष नहीं मिला। सन्तोष डाइरेक्टरों को नहीं मिलता लेकिन वे और कुछ नहीं कर सकते, झख मारकर पड़े हुए हैं। मैं और कुछ कर सकता हूँ चाहे वह बेगार ही क्यों न हो। इसलिए चला जा रहा हूँ। मैं जो प्लाट सोचता हूँ उसमें आदर्शवाद घुस आता है और कहा जाता है उसमें Entertainment Value नहीं होता। इसे मैं स्वीकार करता हूँ। मुझे आदमी भी ऐसे मिले जो न हिन्दी जानें न उर्दू। अंग्रेजी में अनुवाद करके उन्हें कथा का मर्म समझाना पड़ता है और काम कुछ नहीं बनता। मेरे लिए अपनी वही पुरानी लाइन मजे की है। जो चाहा लिखा।

मेरा जीवन यहाँ भी वैसा ही है जैसा काशी में था। न किसी से दोस्ती न किसी से मुलाकात। मुल्ला की दौड़ मस्जिद। स्टूडियो गये, घर आये। हिन्दी के

दो चार प्रेमी कभी-कभी आ जाते हैं। बस।'

इस भाँति फिल्म-लाइन से किनारा लेकर उन्हें लौट आना पड़ा। इसके बाद कुछ बहुत ज्यादा दिन उन्हें इस दुनिया में रहने के लिए नहीं मिले।

[सात]

मुझे याद है, मुल्तान जेल में उनका एक पत्र मिला था। लिखा था—'कभी-कभी यहाँ बहुत सूना मालूम होता है, जैनेन्द्र। जो होना है तुम कुछ लोगों से गले मिल लूँ और फिर ज़िन्दगी से रुखसत हो जाऊँ। तुम बाहर कब आओगे? तुम इतनी दूर पड़े हो कि मैं तड़पकर रह जाता हूँ।'

उस पत्र को पढ़कर मुझे सुख नहीं हुआ था। मालूम हुआ था उस जीवन में रसानुभूति उन्हें स्वल्प रह गई है। धन की, प्रतिष्ठा की पद मर्यादा की उन्हें लालसा न थी फिर भी साहित्यिक दिशा में उनकी आकांक्षाएँ उड़ती ही थीं। साहित्य को लेकर लोक-व्यवहारमय कार्यों और योजनाओं की ओर रह रहकर उनकी रुचि जाती थी। पर व्यवहार दक्षता का उनमें अभाव था और वातावरण इतना जागृत न था कि उसका आवाहन करे उनका उपयोग ले ले। अतः इच्छाएँ उनमें उठतीं और वे फलवती न हो पातीं। परिणामतः एक व्यथता निष्फलता, पराजय का भाव उनमें घर करता जाता था।

यह अनुभव करके उनको साहित्य के सार्वजनिक कार्यों की ओर खींचकर लाने की कुछ विधि की गई, पर वह प्रयोग भी विशेष सफल नहीं हुआ। इधर शरीर में रोग घर कर चला था। जीवन के इस ह्रास ने उसमें योग दिया। वह धीमे धीमे जीवन के उस किनारे जा लगने लगे। न कह सकूँगा कि मन की साध उनमें बुझ गई थी। बुझी न थी, पर उस पर अविश्वास की जैसे एक पराभव के भाव की राख छा गई थी। ज़िन्दगी के हाथों कम थपेड़े उन्होंने नहीं खाए थे। वे सब उनके चेहरे पर उनकी देह पर लिखे थे। वे चोटें जिस हद तक हो सकी प्रेमचन्द के मानस में संशुद्ध (Sublimate) होकर साहित्य के रूप में प्रस्फुटित हुई थीं। पर तलछट भी अवशेष बचा ही था। उसी ने उनके मन को किसी कदर खट्टा बना रखा था। अन्त समय में भी वह खटास पूरी तरह उनको नहीं छोड़ सकी।

किन्तु इस सम्बन्ध की चर्चा इस स्थल पर विशेष न हो सकेगी। यहाँ मैं उनके एक पत्र का उल्लेख करने का लोभ संवरण नहीं कर सकता जो उनके मन के

उद्विग्न स्नेह को फव्वारे की भांति ऊपर खिला देता है। वह माता जी के देहान्त पर उन्होंने मुझे लिखा था। माताजी की मृत्यु पर तो शायद मैं नहीं भी रोया, पर इस पत्र पर आंखें भीग ही आई—

प्रिय जनेन्द्र

कल तुम्हारा पत्र मिला! मुझे यह शंका पहले ही थी। इस मर्ज में शायद ही कोई बचता है। पहले ऐसी इच्छा उठी कि दिल्ली आऊं। लेकिन मेरे दामाद तीन दिन से आए हुए हैं और शायद बेटी जा रही है। फिर यह भी सोचा कि तुम्हें समझाने की तो कोई बात है नहीं। यह तो एक दिन होना ही था। हां जब यह सोचता हूं कि वह तुम्हारे लिए क्या थीं और तुम उनके काम आज भी लड़के से बने फिरते थे, तब जी चाहता है तुम्हारे गले मिलकर रोऊं। उनका वह स्नेह, वह तुम्हारे लिए जो कुछ थीं वह तो थी ही, मगर उनके लिए तो तुम प्राण थे आंख थे सब कुछ थे। विरले ही भागवानों को ऐसी माताएं मिलती हैं। मैं देख रहा हूं तुम दुखी हो तुम्हारा मुंह सूखा हुआ है। संसार सूना-सूना सा लग रहा है और चाहता हूं यह दुख आधा आधा बांट लूं अगर तुम दो। मगर तुम दोगे नहीं। बस देवी का इतना ही तो तुम्हारे पास है मुझे देकर कहां जाओगे? इसे तो तुम सारे-का-सारा अपने सबसे निकट के स्थान में सुरक्षित रखोगे।

काम से छुट्टी पाते ही अगर आ सको तो जरूर आ जाओ। मिले बहुत दिन हो गए। मन तो मेरा ही आने को चाहता है लेकिन मैं आया तो तीसरे दिन रस्सी तुड़ाकर भागूंगा। तुम—मगर अब तो तुम भी मेरे-जैसे हो भाई। अब वह बेफिक्री के मज़े कहां!

और सच पूछो तो मेरी ईर्ष्या ने तुम्हें अनाथ कर दिया। क्यों न ईर्ष्या करता। मैं सात वर्ष का था तब माता जी चली गई। तुम सत्ताईस वर्ष के होकर माता वाले बने रहो यह मुझसे कब देखा जाता। अब जैसे हम वैसे तुम। बल्कि मैं तुमसे अच्छा। मुझे माता की सूरत भी याद नहीं आती। तुम्हारी माता तुम्हारे सामने हैं और बोलती नहीं मिलती नहीं!

और तो सब ठीक है। चतुर्वेदी जी ने कलकत्ते बुलाया था कि नोगुची जापानी कवि का भाषण सुन जाओ। वहां नोगुची हिन्दू-युनिवर्सिटी आए उनका व्याख्यान भी हो गया। मगर मैं न जा सका। अकल की बातें सुनते और पढ़ते उम्र बीत गई। ईश्वर पर विश्वास नहीं आता, कैसे श्रद्धा होती है। तुम आस्तिकता

ही ओर जा रहे हो। जा नहीं रहे, पक्के भगत बन रहे हो। मैं सन्देह से पक्का नास्तिक होता जा रहा हूँ।

बेचारी भगवती अकेली हो गई।

'सुनीता' जाने कहाँ रास्ते में रह गई। यहाँ कहीं बाजार में भी नहीं। चित्र-पट के पुराने अंक उठाकर पढ़े, पर मुश्किल से तीन अध्याय मिले। तुमने बड़ा जबरदस्त Ideal रख दिया। महात्माजी के एक साल में स्वराज्य पाने वाले आंदोलन की तरह। मगर तलवार पर पाँव रखना है।'

'तुम्हारा—धनपत राय'

[इस पत्र के अन्तिम पैरे के कारण यह कह देना आवश्यक है कि 'सुनीता' पूरी पढ़ने पर प्रेमचन्द जी उससे सहमत न हो सके थे।]

[आठ]

प्रेमचन्द जी के स्वभाव में बहिर्मुखता जरूरत से कम थी। उनके जीवन का सार्वजनिक पक्ष इसलिए अंत तक कुछ अक्षम ही बना रहा। अन्तर्मुखता भी धार्मिक प्रकार की न थी, उसके प्रकार को कुछ बौद्धिक कहना होगा। वह शंका से आरम्भ करते थे और इस भाँति एक समस्या खड़ी करके उसका समाधान पाने आगे बढ़ते थे। फिर भी लोक-जीवन में जिन मूलभूत नैतिक धारणाओं की स्वीकृति उन्होंने देखी, उन धारणाओं पर प्रेमचन्द जी अडिग विश्वास से डटे रहे।

बातचीत में उनके साथ अत्यन्त घनिष्ट बातों का प्रसंग भी अक्सर आ गया है। पारिवारिक अथवा व्यक्तिगत बातों को ऐसे समय उन्होंने निश्छल विश्वास के साथ खोलकर कह दिया है। उस सबके आधार पर मैं कह सकता हूँ कि उनका जीवन लगभग एक आदर्श सद्‌गृहस्थ का जीवन था। बुद्धि द्वारा उन्होंने स्वतन्त्र और निर्बाध चिंतन के जीवन-व्यवसाय को अपनाया सही पर कर्म में वह अत्यन्त मर्यादाशील रहे। आर्टिस्ट के संकुचित पश्चिमी अर्थों में उन्होंने आर्टिस्ट बनने की स्पर्धा नहीं की। यही मर्यादाशील प्रामाणिकता उनके साहित्य की धुरी है। उनके साहित्य में जीवन की आलोचना तीव्र है चहुमुखी है। किन्तु एक सर्वसम्मत आधारशिला है जिसको उन्होंने मजबूती से पकड़े रखा और जिस पर एक भी चोट उन्होंने नहीं लगने दी।

जीवन को विशेष कर लोक जीवन की समस्याओं को सर्वथा बौद्धिक और

नैतिक मानसिक रूप देने का परिणाम ही यह हुआ कि जब कि वह जीवन के सफल चित्रकार, भाष्यकार व्याख्याकार हो सके तब उस जीवन को आन्दोलित करके उसमें नवचेतन और निर्माण प्रेरणा डालने में उतने सफल नहीं हो सके। वह जननायक, लोकसंयोजक नहीं हो सके। बात यह है कि उनके साहित्य में लोक पक्ष की जितनी प्रधानता मालूम होती है, ठीक उतनी ही गौणता उस पक्ष की उनके जीवन में प्राप्त थी। वह अन्त तक अपने-आप में एक संस्था नहीं बन उन्होंने कोई संस्था नहीं बनाई। उनके उपन्यासों में (गोदान को छोड़कर लगभग सब में) संस्थाएं बनी हैं और उन संस्थाओं द्वारा लोक जीवन के प्रश्नों का उनके सुधार का समाधान किया गया है। पर प्रेमचन्द जी के जीवन के प्रकाश्य पक्ष में उसका अभाव नजर आता है।

आगामी साहित्य-समीक्षक और इतिहास विवेचक को भीतरी कारण के प्रकाश में इस गाँठ को समझना और खोलना होगा।

वह भीड़ से बचते थे। भीड़ को दिशा देने की उनमें क्षमता न थी। बात यह थी कि भीड़ में पड़कर वह उस भीड़ को समझते रह जाते थे। वह भीड़ के नहीं थे। सभा-सम्मेलनों में वह मुश्किल से ही जाते थे। वे सभा और सम्मेलन उनको पाकर भी विशेष सार्थकता प्राप्त होते थे यह नहीं कहा जा सकता। उनकी उपस्थिति अवश्य किसी भी सभा और किसी भी सम्मेलन के लिए गौरव का विषय थी पर ऐसा लगता था कि प्रेमचन्द जी उस सभा में आए क्या से रहे हैं मानो उस सभा का तमाशा देख रहे हैं।

दिल्ली में प्रान्तीय साहित्य सम्मेलन किया और सभापति बनाया प्रेमचन्द जी को। पर वह आने को ही राजी न हुए। चिट्ठी-पर चिट्ठी दी, तार दिए। आखिर माने ही तो तार में लिखा—Well, I accept with protest

सार्वजनिक सभाओं के प्रति जब यह रुख था तब उधर उलटा ही हाल था। इससे कुछ ज्यादा रोज पहले की बात न थी। एक सबेरे गली में दीखता क्या है कि कंधे पर कम्बल डाले सरासर-सरासर चले आ रहे हैं प्रेमचन्द जी। महात्मा भगवानदीन जी और पण्डित सुन्दरलाल जी भी तब घर पर थे। सुन्दरलाल जी चबूतरे पर से दातन करते-करते बोले—देखना जैनेन्द्र, यह प्रेमचन्द जी तो नहीं आ रहे हैं।

मैंने कहा—वही तो हैं।

प्रेमचन्द जी के पास आने पर मैंने अचरज से पूछा—यह क्या क़िस्सा है ? न तार, न चिट्ठी और आप करिश्मे की भांति आविर्भूत हो पड़े !

बोले—तार की क्या जरूरत थी बारह आने पैसे कोई फालतू हैं। और देखा, तुम्हारे मकान का पता लग गया कि नहीं !

बात यह थी कि मैंने एक कार्ड में लिखा था कि क्या आप आ सकेंगे ! आए तो अच्छा रहे। सो प्रेमचन्द जी ने सुनाया कि—भई ! तुम्हारी चिट्ठी प्रेस पहुंचने पर कोई दो बजे मिली। टाइमटेबिल देखा ट्रेन पांच बजे जाती थी। इससे पहले और कोई गाड़ी थी नहीं। उसी से चला आ रहा हूं।

मैंने कहा—यह क्या गजब करते हैं ! पहले से कुछ खबर तो दी होती। इस तरह से तो आपको बड़ी दिक्कत हुई होगी। गनीमत मानिए कि दिल्ली बम्बई नहीं है। और ऐसे क्या आप दिल्ली से वाकिफ हैं ?

बोले—नहीं जी सोचा तुम्हारा मकान मिल ही जायगा सो बारह आने बचाओ क्या ना। और मकान मिल गया कि नहीं। और दिल्ली—जिन्दगी में पहली मरतबा आया हूं।

जिन्दगी में पहली बार ! मैंने अविश्वास के भाव से कहा—आप कहते क्या हैं ! तिस पर आप हैं सम्राट !

प्रेमचन्द जी कहकहा लगा उठे। यह बात सच थी। नौकरी के सिलसिले में वह अपने इर्द गिर्द के जिलों में ही घूमे थे। दूर जाने का न कुछ काम पड़ा, न कुछ पड़ने दिया। सैर की धुन उनमें कभी थी नहीं। अपने सामने के ही कर्त्तव्य का वह महत्त्व देते रहे थे और उसी के पालन में अपनी सिद्धि मनाते थे। यह बात मेरे लिए अभूतपूर्व और अत्यन्त आश्चर्यकारक थी। इक्यावन बावन वर्ष की अवस्था में प्रेमचन्द जी-जैसा सर्वविश्रुत व्यक्ति दिल्ली में आकर यह कहे कि वह पहला बार यहां आया है—यह अनहोनी बात नहीं तो और क्या है !

तब चार पांच रोज प्रेमचन्द जी यहीं रहे। उन दिनों लिखना लिखाना तो होना क्या था। पण्डित सुन्दरलाल जी थे, महात्मा भगवानदीन जी थे। प्रेमचन्द जी को चाहने वाले और मांगने वाले उर्दू हिन्दी के और लोगों की कमी न थी। चर्चाओं में और पार्टियों में वे दिन ऐसे बीते कि पता भी न लगा। उन्हीं दिनों की और यहीं की ही तो बात है कि वह पंजाबी सज्जन मिले जिन्होंने प्रेमचन्द जी को पाकर पकड़ ही तो लिया। उनकी कहानी दिलचस्प है और शिक्षाप्रद है।

स्थानीय हिन्दी-सभा की ओर से प्रेमचन्द जी के सम्मान में सभा की जा रही थी। उन्हें अभिनन्दन पत्र भेंट होने वाला था। उस वक्त एक पंजाबी सज्जन बड़े परेशान मालूम होते थे। वह कभी सभा के मन्त्री के पास जाते थे कभी इधर उधर जाते थे। प्रेमचन्द जी के पास जाने की शायद हिम्मत न होती थी। प्रेमचन्द जी को उसी रात दिल्ली से जाना था। सभा का काम जल्दी हो जाना चाहिए और वह जल्दी किया जा रहा था। प्रेमचन्द जी ने अपना वक्तव्य कहने में शायद दो मिनट लगाए। सभा की कार्यवाही समाप्त प्राय थी। तभी वह पंजाबी सज्जन उठे और सभा के सामने हाथ जोड़कर बोले—मैं प्रेमचन्द जी को आज रात किसी हालत में नहीं जाने दूंगा। उनके साथ इस सारी सभा को मैं कल अपने यहाँ आमन्त्रित करना चाहता हूँ।

लोगों को बड़ा विचित्र मालूम हुआ। तैयारी सब हो चुकी थी और प्रेमचन्द जी का इरादा निश्चित था। लेकिन यह सज्जन अपनी प्रार्थना से बाज न आए। वह बराबर हाथ जोड़ते थे और अपनी बात सुनाना चाहते थे। किन्तु सभा के लोग इस विघ्न पर कुछ अधीर थे और उन सज्जन के साथ शायद ही किसी को सहानुभूति थी। प्रेमचन्द जी इस भावुकता के प्रदर्शन से बहुत प्रभावित नहीं थे।

किन्तु उन सज्जन को कोई चीज न रोक सकी। उन्होंने हाथ जोड़कर कहा कि मेरी अरदास आप लोग सुन लीजे फिर जो चाहे आप कीजियेगा। जब से अखबार में प्रेमचन्द जी के यहाँ आने की खबर पढ़ी तभी से उनके ठहरने की जगह पाने की कोशिश करता रहा हूँ। वह जगह नहीं मिली। अब इस सभा में मैं उनको पा सका हूँ। मैं उनकी तलाश करता हुआ दर्शन की इच्छा से लखनऊ दो बार गया। एक बार बनारस भी गया। तीनों बार वह न मिल सके। कई बरस पहले की बात है। मैं कमाने के ख्याल से पूरब की तरफ गया था। पर भाग्य की बात कि मेरे पास जो था सब खत्म हो गया। मैं घूमता घामता स्टेशन पर आया। मुझे कुछ सूझता न था। आगे क्या होगा। सब अँधेरा मालूम होता था। जेब में दो रुपये और कुछ पैसे बचे थे। प्रेमचन्द जी के अफसानों को मैं शौक से पढ़ा करता था। यूँ ही टहलता हुआ ह्वीलर की दुकान पर एक रिसाले के स्पेशल नम्बर के सफे लौटने पलटने लगा। उसमें प्रेमचन्द जी का एक अफसाना नजर आया। मैंने रुपया फेंक रिसाला खरीद लिया और प्रेमचन्द जी की उस 'मन्त्र

कहानी को पढ़ गया। पढ़कर मेरे दिल की पस्ती जाती रही। हौसला खुल गया। मैं लौटकर आया और हार न मानने का इरादा कर लिया। तब से मेरी तरक्की ही होती गई है और आज यहां आपकी खिदमत में हूँ। तभी से मैं उस मर्द कहानी के मर्दाना प्रेमचन्द की तलाश में हूँ। अब यहां पा गया हूँ तो किसी तरह छोड़ नहीं सकता। मेरी बीवी बीमार हैं, वह उठ-बैठ नहीं सकतीं, चल-फिर नहीं सकतीं। वह कब से प्रेमचन्द जी के दर्शन की आस बांधे बैठी हैं। और फिर हाथ जोड़कर उन्होंने कहा—अब फ़ैसला आप सब साहबान के हाथ है।

प्रेमचन्द जी की प्रवृत्ति रुकने की नहीं थी, लेकिन उनका रुकना पड़ा। यह घटना मेरे लिए तो आँख खोल देने वाली ही थी। यह और इस तरह की और-और बातों में प्रेमचन्द जी के दिल्ली प्रवास के दिन सहज में बीत गये। प्रेमचन्द जी प्रसन्न मालूम होते थे। लेकिन एक बात जानकर मैं साश्चर्य असमंजस में पड़ गया। बातों-बातों में प्रगट हुआ कि इधर के बीस-तीस वर्ष में यह पहले सात दिन गये हैं, जब उन्होंने कुछ काम नहीं किया।

मैंने अत्यन्त विस्मयापन्न भाव से पूछा—आप हर रोज बिना नागा काम करते हैं?

बोले—हाँ, सवेरे के कुछ घण्टों में तो करता ही हूँ।

तब मैं जान सका कि किस अक्षुण्ण साधना के बल पर यह व्यक्ति दुनिया के राग रंग के प्रति अलिप्त और उदासीन रह सकता था, और कि किस भाँति उसकी कीर्ति उसकी कठोर तपस्या के मोल उसको मिली थी। उस समय मुझे सन्देह हो आया कि पार्टियों और दावतों का यह समारोह भी कहीं भीतर-भीतर उसकी आत्मग्लानि का कारण तो नहीं हो रहा है। जो औरों के लिए सम्मान था वह बड़ी आसानी से इस व्यक्ति के लिए बोझ भी हो सकता था। तब उनकी ऊपरी प्रसन्नता देखकर मेरा मन तनिक भी आश्वस्त नहीं हुआ कि पार्टियों और सम्मान भोजों के आधिक्य से सचमुच ही प्रेमचन्द के मन को पीड़ा नहीं हो रही है।

यहां एक पार्टी में हसन निजामी साहब ने प्रेमचन्द जी का अभिनन्दन करते हुए कहा था कि—शायद ही कोई प्रेमचन्द जी का अफ्साना, या मजमून होगा जो उर्दू में निकला हो और मैंने न पढ़ा हो। मैं ढूँढ-ढूँढकर उनकी चीज पढ़ता हूँ। हालात में उतार चढ़ाव होते रहते हैं। दौर रंग बदलता है। जमाना

था कि लागो की तबियतें बदलती हुई थी। सब पर फिरकेवाराना रग सवार था। कौन था जो न बहका हो। पर प्रेमचन्द तब तक साबित कदम रहे। उनकी निगाह वैसी ही रही और साफ रही। वह किसी मौके से नहीं डिगे।'

हसन निजामी साहब की तरफ से आकर ये शब्द और भी मानी रखते हैं और इन शब्दों से प्रेमचन्द जी की अलक्ष्य और मूक सेवा का मुझे और भी सही अनुमान हुआ और मेरी श्रद्धा बढ गई।

लेकिन यह बात सच है कि बड़े शब्दों से कहीं अधिक उन्हें छोटी सी सचाई छूती थी। जहाँ जिन्दगी थी वहा प्रेमचन्द जी की निगाह थी। जहा दिखावा था, उसके लिए प्रेमचन्द के मन मे उत्सुकता तक न थी। कुतुबमीनार नई सक्रेटेरियट बिल्डिंग्ज कौंसिल चेम्बर्स यह अथवा वह महापुरुष—इसको देखने जानने की लालसा उनकी प्रवृत्ति में न थी। या हम-तुम हमीं जैसा से वह बरोर मिलने को उद्यत रहते थे।

पहली बात उनमे त्रुटि तक पहुँच गई थी। जब शांतिनिकेतन जाने की बात आई तो उनका मन उसे पूरी तरह ग्रहण न कर सका। मैंने कहा—चलना चाहिए।

बोले—मैं तो वहा उस स्वर्ग की सैर करूँ यहाँ घर के लोग तकलीफ में दिन काटें, क्या यह मेरे लिए ठीक है? और सबको ले चलूँ इतना पैसा कहाँ है। और जैनेन्द्र महाकवि रवीन्द्रनाथ तो अपनी रचनाओं द्वारा यहां भी हमें प्राप्त हैं। क्या वहाँ मैं उन्हें अधिक पाऊंगा?

मैंने फिर भी कहा—शान्तिनिकेतन को अधिकार हो सकता है कि वह आपको चाहे, आपने कर्म एसे किए हैं कि आप मशहूर हो। तब कर्मफल से बच नहीं सकते। चलिए न।

बोले—हाँ जैनेन्द्र यह सब ठीक है। लेकिन मैं अपने यहाँ ही पड़ा हूँ तुम जाओ।

मैंने कहा—हाँ मैं तो जाऊंगा।

बोले—जरूर जरूर जाओ। मैं तो खुद कहने वाला था कि तुम्हें जाना चाहिए। जैनेन्द्र जवान और बूढ़े में यही तो फर्क है।

इधर जीवन के अन्तिम पर्व की ओर उन्हें थोड़ा-बहुत साहित्यिक उद्देश्य के नाते से सभा-समाजो में जाने को उकसाया जा सका था। यहाँ दिल्ली साहित्य

सम्मेलन के जलसे में वह आ गए थे। आ तो गए थे। लेकिन अपने को पूरी तरह निरुपयोगी भी अनुभव कर रहे थे बोले—जैनेन्द्र, सम्मेलन के जलसे में मैं आ गया। अब बताओ क्या करूँ। मैं उनको क्या कहता, चुप रह जाता था। क्या उनको मैं बताता कि उनका स्थान क्या है और कहाँ है, और लोगों की क्या-क्या आशाएँ उनके साथ बँधी हैं? लेकिन सच यह है, उन मौकों पर अपनी उपस्थिति वह अयाचित अनुभव करते थे। जब लोग दलों को लेकर या पदों को लेकर आपस में दहल-दहल और छीन झपट करते थे तब उनका कहीं थोड़ी ठंडी हवा लेने का जी होता था। कहा करते थे कि इनको भी थोड़ी ठंडी हवा इस समय खा लेनी चाहिए।

साहित्य के भविष्य के बारे में बातें हुआ करती थीं। मानते, कुछ बौद्धिक आदान-प्रदान का, परस्पर के सहयोग-क्षेत्र का विस्तार होना चाहिए। प्रान्तीय मर्यादाएँ एकदम विकास पर बंधन न होनी चाहिएँ। राष्ट्र एक है, उस एकता को गहराई में अनुभूत करना होगा। इस ओर जो प्रयत्न हुए (यथा भारतीय साहित्य-परिषद्) उनके समारंभ में प्रेमचन्द जी ने उत्साहपूर्वक भाग लिया। पर उसमें भी उन्हें रस कम हो गया। वह अपने सहयोगियों से आशाएँ ऊँची रखते थे। वह मानव प्रकृति का मूल्य यथार्थ से कुछ अधिक ऊँचा आँकते थे। परिणामतः जब जब वह समाज में आए, तब-तब विरक्ति की भावना लेकर उन्हें फिर अपने में ही लौट जाना पड़ा।

[नौ]

साधारणतया कोमलता की धारा उनमें अन्तःसलिला सरस्वती के समान अप्रकाश्य ही में बहती थी। वह रचनाओं में जिस स्पष्टता से दीखती थी व्यवहार में उतनी ही अगोचर हो जाती थी। फिर भी हठात् वह फूटकर ऐसे प्रकट हो उठी है कि प्रेमचन्द जी को भी चकित रह जाना पड़ा है।

एक बार की बात है। दिन अधिक नहीं हुए। सन '३४ का साल होगा। बनारस में बेनिया-पार्क वाले मकान में रहते थे। सवेरे का वक्त था। जाड़े दिन रहे थे। नीचे के कमरे में धूप की किरणें तिरछी पड़ रही थीं। मैं जल्दी निवृत्त हो चुका था और उनकी एक पाण्डुलिपि देख रहा था। इतने ही में प्रेमचन्द जी ऊपर से आए। पूछा—तुम नहा चुके?

मैंने कहा—नहा चुका।

मुझे आज देर हो गई।—कहते कहते वह नीचे फर्श पर बैठ गए।

शाम को—रात तक—चर्चा चलती रही थी कि सत्य का स्वरूप कहां तक स्थिर मानना होगा और कहां तक निरंतर परिवर्तनीय। उस थिरता और परिणमन में परस्पर क्या अपेक्षा है। लोकाचार विकासशील है या नहीं अथवा उसकी निश्चित मर्यादा रेखाएँ और निश्चित आधार तत्त्व हैं। वही चर्चा किसी न किसी रूप में अब उठ आई। बात बात में प्रेमचंद जी बोले—भई जैनेंद्र यह किताब Powerful (जबदस्त) है।

कुछ दिन हुए रूसी उपन्यास 'यामा' उनके यहां देखा था। उसी की ओर संकेत था। मैंने तब तक वह पढ़ा न था।

बोले—कहीं कहीं तो जनेंद्र मुझसे पढ़ा नहीं गया। दिल इतना बेकाबू हो गया। एक जगह आंसू रुकना मुश्किल हुआ।

देखता क्या हूँ कि जैसे वह प्रसंग अब भी उनके भीतर छिड़ गया है और उसी प्रकार आंसू रुकना किसी कदर मुश्किल हो रहा है।

बोले—उस जगह मुझसे आगे पढ़ा ही न गया जनेंद्र किताब हाथ से छूट गई। और पुस्तक के उस प्रसंग का वह अनायास ही वर्णन करने लगे।

मैं सुनता रहा।

धूप कमरे में तिरछी आ रही थी। उनके चेहरे पर सीधी तो नहीं पड़ रही थी फिर भी वह चेहरा सामने पड़ता था और उजला दीखता था। मैं कानों से सुनने से अधिक उस कथा को आंखों से देख रहा था। प्रसंग बेहद मार्मिक था। प्रेमचन्द जी, मानो अवश भाव से आपा खोए से कहते जा रहे थे।

सहसा देखता हूँ, वाक्य अधूरा रह गया है। वाणी कांपकर मूक हो गई है। आँख उठाकर देखा—उनका चेहरा एकाएक मानो राख की भांति सफेद हो आया है। क्षण भर में सन्नाटा हो गया। मुझे जाने क्या चीज छू गई। पल भर में मानो एक मूर्छा व्याप गई। और पल बीत न-बीते मैंने देखा प्रेमचन्द का सौम्य मुख एकाएक बिगड़ उठा है। जैसे भीतर से कोई उस मरोड़ रहा हो। जबड़े हिल आए मानो कोई भूचाल उन्हें हिला गया। सारा चेहरा तुड़ मरुड़कर जाने कैसा हो चला। और फिर देखते देखते उन आँखों से तार-तार आंसू झर उठे। उस समय चेहरा फिर शान्त हो गया था और आसू झर झर झर रहे थे।

यह क्या काण्ड हो गया! मानो प्रेमचन्द जी बहुत ही लज्जित थे। लड़

गडाती वाणी म बोले—जनेन्द्र ! आगे उनसे बोला न गया। मानो वह जनेन्द्र से क्षमा मागना चाहते थे। उनका अपने ऊपर से काबू बिलकुल टूट चुका था। आसू रुकना न चाहते थे। आह कहीं हिचकी ही न बध जाय।

किन्तु मिनट-दो मिनट म वह प्रकृतिस्थ हुए। गालों और मूछों पर से टपकते आंसुओं को उन्होंने पोछा नही। एक क्षण लज्जित मुस्कान म मुस्काए। कठिनाई से बोले—मुझसे आगे नहीं पढा गया, जनेन्द्र !

यह व्यक्ति जो जाने किन किन मुसीबतों में से हसता हुआ निकल आया है जो अपने ही दुख के प्रति इतना निमम रहा है, वह पुस्तक के कवि-कल्पित पात्र के दुख क प्रति इतना तादात्म्य अनुभव कर सकता है कि ऐसी अवशता से रो उठे ! मेरे लिए यह अनुभव अनूठा था। इसके प्रकाश म मैं देख सका कि प्रेमचन्द की अन्तस्थ वत्तियां कितनी सूक्ष्मस्पर्शी हैं। जो काल के दुद्धष थपेडों स अचल रहेगा वही किसी की सच्ची वेदना, सच्चे त्याग पर एकाएक गलकर किस भांति बह भी सकता है—मैंने तब जाना।

पुस्तक के उस प्रसग की बात यहाँ न हो सकेगी। साधारणतया वह इतना बीभत्स, इतना अश्लील मालूम होता था ! पर उस प्रकार की विषम स्थिति म घिरी हुई, ढँकी हुई वहाँ थी एक प्रकार की आध्यात्मिक सौन्दय की झलक। अ धेरे म थी इसलिए मानो उसकी चमक और भी उज्ज्वल थी। प्रेमचन्द जी की आँख उसी पर पहुँची और मुग्ध हो गई।

मानवी भावनाओं का परनिमित स्नेह का दैन्य प्रेमचन्द जी म था। जिसको कलाकार समझा और जाना जाता है, उसमे इसकी सम्भावना रहती है। कलाकार इतना आत्म ग्रस्त हो जाता है कि औरो के प्रति उपेक्षावत्ति धारण कर ले। प्रेमचन्द जी आत्मग्रस्त न थे। वह बल्कि परव्यस्त थे।

प्रेमचन्द जी ने एक बडी दिलचस्प आप बीती सुनाई। एक निरकुश युवक ने किस प्रकार उन्हें ठगा और किस सहज भाव से वह उसकी ठगाई म आते रहे, इसका बतान बहुत ही मनोहर है। पहले पहल तो मुझे सुनकर अचरज हुआ कि मानव प्रकृति के भेदों को इतनी सूक्ष्मता स जानने और दिखाने वाला व्यक्ति ऐसा अजब धोखा कैसे खा गया। लेकिन मैंने देखा कि जो उनके भीतर कोमल है, वही कमजोर है। उसको छूकर आसानी से उन्हे ऐंठा जा सकता है।

उसी उनकी रगड को पकड कर उस चालाक युवक ने प्रेमचन्द जी को ऐसा

साहित्य, सर्वथा नहीं तो अधिकांश रूप में अवश्य व्यक्ति के लिए एक शगल था, मनोविनोद का एक साधन और व्यवसाय था। प्रेमचन्द जी आरम्भ में उसके प्रति इसी नाते या धारणा पर साहित्य में प्रविष्ट हुए। शनैः शनैः ही साहित्य के प्रति उनके मनोभाव उत्तरोत्तर गम्भीर और पवित्र होते गए। अपने साथ-साथ वे हिन्दी पाठकों को भी उस प्रकार की मनोवृत्ति में उठाते चले गए। हमको यह याद रखना चाहिए कि 'चन्द्रकान्ता सन्तति' या 'नरेन्द्रमोहिनी' के पाठक से उन्होंने आरम्भ किया था। उस पाठक के भरोसे वह लेखक बने और उन्हें लेखक बने रहना था। पाठक वही था लेकिन उसे 'सेवासदन' से 'गोदान' तक ले चलना था। प्रेमचन्द के इस ऐतिहासिक दायित्व को भूलने से न चलेगा। महावीर प्रसाद जी द्विवेदी को विचक्षण पाठक से काम पड़ा। वह काम इतना गुरु गम्भीर न था। उसमें विवाद से और तर्क से और योग्यता से काम चल सकता था। अधिक-से-अधिक वह इस या उस तर्क द्वारा, विचार द्वारा का खंडन-मंडन का काम था। पर प्रेमचन्द के जिम्मे तो समूचे व्यक्तित्व को, समूचे हिन्दी-वर्ग को, एक तल से उठाकर दूसरे सम्भावी तल तक ले चलने का काम आया। वह काम समूचे व्यक्तित्व, समूची आत्मा को माँगता था। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने हिन्दी को एक विशेष tradition (परम्परा) प्रदान की। उसे रूढ़ शिथिलता से उबारकर भारतेन्दु ने हिन्दी को हवा लगने दी। पर उन traditions की अपर्याप्तता, अनुपयुक्तता इधर उधर प्रकट हो चली थी। भारतेन्दु के साहित्य में जीवन मानो नाटकीय रोचकता है। पर बीसवीं सदी का विज्ञान और वितर्क संकुल जीवन उससे अधिक जटिल चीज़ हो चली। हिन्दी को उस भारतेन्दु की साहित्य-परम्परा से आगे बढ़कर इस जीवन जटिलता का और उसके वैविध्य-वैषम्य का आकलन करने के लिए समर्थ होना था। यह काम परम्परा को तोड़ने से नहीं होता। परम्परा टूटती नहीं है, टूट सकती ही नहीं है। उनको पकड़कर आगे बढ़ा जाता है, उन्हीं का विस्तार किया जाता है, उभारा जाता है। यह काम आलोचना विवेचना के बस का नहीं है। यह काम स्रष्टा का है, उसके लिए है। साहित्यिक परम्पराओं का निर्माण और संस्कार इतना अधिक विधायक कर्म है कि ध्वंसेच्छा अथवा सुधाराग्रह उसके लिए तो असंगत वृत्तियाँ हैं। उसके लिए तो अपने सम्पूर्ण जीवन का निवेदन ही चाहिए। इस युग में प्रेमचन्द जी के ऊपर यह दायित्व पड़ा और उन्होंने निबाहा, ऐसा मेरा विश्वास है। मनोविनोद से उठते उठते हम साहित्य के प्रति एक मिशन-

व, एक पूजा भाव तक आ गए हैं और प्रेमचन्द जी ने हिन्दी पाठक लेखक के मानसिक विकास में महत्त्वपूर्ण योग दिया है।

उनकी रचनाओं को निर्माणकाल के अनुक्रम से देखने पर स्पष्टता से पता चलता है कि वह आगे बढ़ने हुए समय का साथ देने में अपने को नाथने से भी नहीं चूके। कहीं वह राह में ठहर नहीं गए, साथ देते ही गए। जो उनकी पहली कहानियाँ और पहले उपन्यास हैं वह पिछली कहानियाँ और पिछले उपन्यास नहीं हैं—इसका कारण यही है कि वह प्रगति में पिछड़ने को तयार न थे। जब कहानियों में मनोविज्ञान की धुन सवार हुई तब वह उस नई माँग और नए फैशन के प्रति अवज्ञाशील नहीं हुए। जब और जिस तरह की नई जिज्ञासा, नई माँग पाठक में जगी तब प्रेमचन्द भी उसके प्रति जागरूक और उत्तर में तत्पर दीख। युग के प्रतिनिधि लेखक के यही लक्षण हैं। वह निरन्तर वर्द्धमान, निरन्तर परिणमनशील है। उन्होंने पाठक को बिछुड़ने नहीं दिया, उसको घेरे ही रक्खा। उस समय पाठक असन्तुष्ट भी हुआ, तो हो प्रेमचन्द जी उसके हित का अपने मन से भुलाने वाले न थे। यही कारण है कि 'सेवासदन' की सुसम्पूर्णता और सुसम्बद्धता (Complete casual wholeness) 'गोदान' में नहीं है। गोदान चित्र की भाँति असमाप्त और काल प्रवाह के समान थोड़ा बहुत अनिर्दिष्ट है। पिछली रचनाएँ पहले की भाँति नैतिक उद्देश्य में ढँकने से ढँकी सुरक्षित और बन्द नहीं हैं मानो कहीं अनढकी और खुली रह गई हैं—इसका कारण यही है। पाठक आदेश नहीं चाहता निर्देश नहीं चाहता, विस्तति और जागति केवल चाहता है तो प्रेमचन्द जी भी पिछली रचनाओं में निर्देश नहीं देंगे, उन्मुक्त विस्तार देंगे।

Subjective (आत्मापेक्षी) दृष्टि से प्रेमचन्द जी अपनी साहित्य सृष्टि में निरन्तर गतिमान और प्रगतिशील रहे हैं। अपने भीतर जीवन का प्रवाह उन्होंने रुकने नहीं दिया। Objective (परापेक्षी) दृष्टि से मैं उनके साहित्य पर विचार भी करना नहीं चाहता हूँ। इस लिहाज से किसी को कोई रचना अच्छी लग सकती है और दूसरा किसी दूसरी रचना पर अटक सकता है। लेकिन उस माप से प्रेमचन्द के साहित्य का विभाजन उपयोगितापूर्वक किया जायगा, सही, पर उस भाँति उस प्रेमचन्द के तत्त्व को पहुँचना दुष्कर होगा जो उस समूचे साहित्य की एकता की सम्भावना देता है और जो उस सृष्टि का मूल है।

[ग्यारह]

प्रेमचन्द जी भौतिकतावादी नहीं बुद्धिवादी थे। उनका आधार विवेक, अर्थात् विवेक-विज्ञान था। फिर भी आज के युग की पश्चिमी प्रवृत्ति से उनको आशंका थी। उनके जीवन में, उनके साहित्य में उस आशंका के लक्षण अति प्रगट हैं, और उसके प्रति खुली चेतावनी और खुली चुनौती है। उसमें घोषित है कि त्राण शक्ति में नहीं, सेवा में है। महिमा उद्दण्ड विभूति में नहीं शान्त समर्पण में है। सिद्धि सुख पर ईर्ष्या करने में नहीं, वेदना के साथ सहानुभूति करने में है। Social polity का समाधान शहर में नहीं गाँव में है। बहुत-कुछ चारों ओर बटोर कर संग्रह करने से जीवन का स्वास्थ्य बढ़ेगा नहीं, घटेगा, उपयोगिता भी बढ़ेगी नहीं घटेगी, और आन्तरिक आनन्द तो इस भाँति घिर कर घुटकर पीला और निष्प्राण हो ही जायगा।

[बारह]

मुझे एक अफसोस है। वह अफसोस यह है कि मैं उन्हें पूरे अर्थों में शहीद क्यों नहीं कह पाता हूँ। मरते सभी हैं। यहाँ बचना किसको है। आगे पीछे सबको जाना है। पर मौत शहीद की ही सार्थक है क्योंकि वह जीवन की विजय को घोषित करती है। आज यही ग्लानि मन में घुट घुटकर रह जाती है कि प्रेमचन्द शहादत से क्यों वंचित रह गए। मैं मानता हूँ कि प्रेमचन्द शहीद होने योग्य थे। उन्हें शहीद ही बनना था।

और यदि नहीं बन पाए हैं वह शहीद, तो मेरा मन तो इसका दोष हिन्दी संसार को भी देता है।

मरने से एक सवा महीने पहले की बात है। प्रेमचन्द खाट पर पड़े थे। रोग बढ़ गया था, उठ चल न सकते थे। देह पीली, पेट बढ़ा था, पर चेहरे पर शान्ति थी।

मैं तब उनकी खाट के बराबर काफी काफी देर बैठा रहा हूँ। उनके मन के भीतर कोई खीझ, कोई कड़वाहट, कोई मैल उस समय करकराता मैंने नहीं देखा। देखते तो उस समय वह अपने समस्त अतीत जीवन पर पीछे की ओर भी होंगे, और आगे अज्ञात में कुछ तो कल्पना बनाकर देखते ही होंगे। लेकिन दोनों को देखते हुए वह सम्पूर्ण शान्त भाव से खाट पर चुपचाप पड़े थे। शारीरिक व्यथा थी पर मन निर्विकार था।

एसी अवस्था म भी (बल्कि, ही) उन्होने कहा—जैनेन्द्र लोग ऐसे समय याद किया करते हैं, ईश्वर। मुझे भी याद दिलाई जाती है। पर अभी तक मुझे ईश्वर को कष्ट देने की जरूरत नही मालूम हुई है।

शब्द होले-होले, विरला स कह गए थे और मैं इस अत्यन्त शान्त नास्तिक सन्त की शक्ति पर विस्मित था।

मौत स पहली रात को मैं उनकी खटिया के बराबर बैठा था। सवेरे सात बजे उन्हे इस दुनिया पर आस मीच लेनी थी। उसी सवर तीन बजे मुझम बातें होती था। चारो ओर सन्नाटा था। कमरा छोटा और अंधेरा था। सब साथ पड़े थ। शब्द उनके मुह से फुसफुसाहट म निकलकर खो जात थे। उन्ह कान से अधिक मन से सुनना पड़ा था।

तभी उन्होने अपना दाहिना हाथ मेरे सामन कर दिया। बाले—दाब दो।

हाथ पीला क्या सफेद था और फूला हुआ था। मैं दाबन लगा।

वह बाले नही आख मीचे पड़े रहे। रात के बारह बजे 'हस' की बात होकर चुकी थी अपनी आशाएँ, अपनी अभिलाषाएँ, कुछ शब्दा से और अधिक आखो स वह उस समय मुझ पर प्रगट कर चुके थे। 'हस' की और साहित्य की चिन्ता उन्हें तब भी दबाए थी। अपन बच्चा का भविष्य भी उनकी चेतना पर दबाव डाल हुए था। मुझम उन्ह कुछ ढारस था।

अब तीन बजे उनके फूल हाथ को अपने हाथ म लिए मैं सोच रहा था कि क्या मुझ पर उनका ढारस ठीक है ? रात के बारह बजे मैंन उनसे कुछ तर्क करन की धृष्टता भी की थी। वह चुभन मुझे चुभ रही थी। मैं क्या करूं ? क्या कहूं ?

इतन म प्रेमचन्द जी बोल—जैनेन्द्र !

बालकर चुप मुझे देखत रहे। मैंन उनके हाथ को अपने दोना हाथा से दबाया। उनको देखत हुए कहा—आप कुछ फिकर न कीजिए बाबूजी। आप अब अच्छे हुए। और काम क लिए हम सब लोग हैं ही।

वह मुझे देखत रह देखत रह। फिर बाले—आदर्श स काम नही चलेगा—

मैंन कहना चाहा—आदर्श

बोल—बहस न करो—कहकर करवट लकर आँखें मीच लीं।

उस समय मेरे मन पर व्यथा का पत्थर ही मानो रख गया। प्रकार प्रकार की चिन्ता दुश्चिन्ता उस समय प्रेमचन्द जी के प्राणो पर बोझ डाल कर बैठी हुई

थी। मैं या कोई उसको उस समय किसी तरह नहीं घटा सकता था। चिंता का वे द यही था कि हंस कैसे चलेगा। नहीं चलता तो क्या होगा। 'हंस' के लिए तब भी जीने की आस उनके मन में थी और हंस न जियेगा यह कल्पना उन्हें असह्य थी। पर हिंदी संसार का अनुभव उन्हें आश्वस्त न करता था। हंस के लिए जाने उस समय वह कितना न झुक गिरने को तैयार थे।

मुझे योग्य जान पड़ा था कि कहूं कि—हंस मरेगा नहीं। लेकिन वह बिना झुके भी क्या न जिए? वह आपका अखबार है तब वह बिना झुके ही जियेगा।

लेकिन मैं कुछ भी न कह सका और कोई आश्वासन उस साहित्य-सम्राट को आश्वस्त न कर सका।

थोड़ी देर में बोले—गर्मी बहुत है पंखा करो।

मैं पंखा करने लगा। उन्हें नींद न आती थी तकलीफ बहुत थी। पर कराहते न थे चुपचाप आंख खोलकर पड़े थे।

दस-पन्द्रह मिनट बाद बोले—जैनेन्द्र जाओ सोओ।

क्या पता था अब शेष घड़ियां गिनती की हैं। मैं जा सोया।

और सवेरा होते होते ऐसी मूर्च्छा उन्हें आई कि फिर उससे जगना न हुआ।

× × × ×

हिन्दी संसार उन्हें तब आश्वस्त कर सकता था और तब नहीं तो अब भी आश्वस्त कर सकता है। मुझे प्रतीत होता है, प्रेमचन्द जी का इतना ऋण है कि हिंदी संसार सोचे—कैसे वह आश्वासन उस स्वर्गीय आत्मा तक पहुंचाया जाय।

दो

प्रेमचन्द को गये अब पन्द्रह वर्ष होने हैं लेकिन मन को यह समझाना मुश्किल है कि वह अब स्वर्ग के हैं हमारे समाज और जमाने के नहीं हैं। सच तो यह है कि उन्हें उठाकर काल ने गलती ही की है। न उनकी उम्र इतनी थी न किसी तरह वह समय से पीछे थे। वे तो एक कदम आगे थे और मौजूदा हालतों में शायद वह आज पहले से भी ज्यादा खरे और जरूरी साबित होते।

मेरी पहली मुलाकात उनसे सन २९ में हुई। जाड़ों के दिन थे कुम्भ का मेला पूरा हुआ ही था, बनारस से गाड़ी लखनऊ स्टेशन पर कोई चार बजे आ लगी थी। तड़का फूटते फूटते मैं उनके लाल मकान पर जा पहुंचा, लेकिन यह

पहचना आसान न हुआ। सोचना था कि नामवर आदमी हैं। लाल मकान का पता अपने पास है ही। एक बच्चा तक जगह बता देगा। पर बात उतनी सीधी न निकली। एक डेढ़ घण्टा मुझे लगा अमीनाबाद के पास के उस लाल मकान को पाने म और मालूम हुआ कि आत्मा की और हृदय की और दिमाग की ऊंचाई और दुनियादारी की बढ़ाई एक चीज़ नही है। शायद दोना समानान्तर हैं।

मकान के जीने के नीचे म आवाज़ देन पर जब ऊपर प्रेमचन्द प्रकट हुए तो महसा मन को धक्का लगा। वह रूप देवोपम मालूम हुआ और मैं कुछ वैसी ही आस बाँधे था, आगे-आगे बालो से माथा ढका हुआ घनी बडी मूछें करीब घुटना तक बँधी धोती कधो पर लाल किनारी की घिसी पिटी चादर, कुल मिलाकर जो दश्य आखो क सामन पडा वह निश्चय ही मनोहारी न था। लेकिन देखते देखते वह व्यक्ति लपककर जीन से नीचे आया फौरन मेरे हाथो स सामान की छोटी मोटी चीज़ छीनी और मुझे इस तरह ऊपर ले चला कि मैं समझ ही न सका कि मैं यहाँ अजनबी हूँ या क्या। ऊपर दालान म एक तरफ मिट्टी का ढेर या पानी की एक मोटी लकीर कोण बनाती हुई इस कोने से उस कोने को मिला रही थी। सहन के बराबर वाले कमरे म जिसमे हम दाखिल हुए और बठे किताबें कापियाँ मेज मूढो पर बे तरतीब खडी और पडी थी और स्याही के धब्बे भी वहा होन के लिए हर प्रकार स्वतन्त्र थे। किताबो को झट इधर-उधर सरकाकर मेरे लिए मूढे पर जगह हुई और हम लोग गप करने बैठ गए। एसे कि जस कब के दोस्त हैं। मैं कच्ची उम्र का अनाडी लडका वह एक पहुचे हुए बुजुर्ग। साहित्य क वह सम्राट उसी क तट पर आकर झिझक क साथ झाँकने वाला उत्सुक मैं। पर प्रेमचन्द की सहृदयता मे बालपन का यह फक कोई अ तर नहीं डाल सका। मैं तक अपनी हीनता भूल गया और असम्भव नही कि चर्चा म उस समय कुछ अनधिकृत बात तक मैं कह गया होऊँ।

कब नौ बज गए पता न चला। आखिर अन्दर से आवाज़ आई कि दिन इतना चढ गया, दवा नही लाकर दी जायगी। तब वह दुनिया की तरफ जागे और जल्दी से परो म स्लीपर डाल तकिए स शीशी खीच नुस्खा तलाश दवा लेने दौडे। कहा, तुम इतने म हाथ मुह धोओ, मैं अभी आया।

प्रेमचन्द का रूप यह था और सब जगह सब समय शायद यही रहता था। दुनिया म कुछ कृत्रिमता भी चाहिए, ज्यादा खुले और हार्दिक रहन का यहा कायदा

नहीं है। जान पडता है प्रेमचन्द को दुनिया के इस जरूरी कायदे का ख्याल नहीं था और दिमागी तौर पर अगर था भी तो अमल मे वह उसे साथ नहीं रख पाते थे।

खा-पीकर बोले, चलो जैनेन्द्र दफ्तर चलें। मकान से उतर कर मैंने देखा कि हरजत ने अमीनाबाद से तांगा नहीं लिया इक्का किया। मैं एक अच्छे से तांगे को देखकर बातचीत करना चाहता था पर वह बोले—नहीं इक्के से चलेंगे। तांगा हम खींचता है इक्के पर हम सवार होते हैं। कोई बात हुई कि मुंह हमारा इधर है और खिंच हम पीठ की तरफ रहे हैं। अपनी चीज तो इक्का है कहकर कहकहा लगाया और एक इक्के वाले को इस तरह सम्बोधन किया, मानो वह इनका कोई जिगरी दोस्त है। दफ्तर में पहुँचकर और बैठकर भी कोई दफ्तरीपन उन पर मन चढ़ा नहीं देखा, काम भी हो सकता था और हँसी-ठट्ठा भी हो सकता था।

उस वक्त तो केवल एक ही दिन मैं ठहर सका। और उसी रात वहां से चला आया। लेकिन उन चन्द घण्टों ने हमेशा के लिए मुझे प्रेमचन्द का बना दिया। तब 'हंस' निकालने का ख्याल चल रहा था ईश्वरीप्रसाद उसके लिए चित्र तैयार करके लाये थे और उसी दिन टाल्स्टाय के ग्रन्थों का अनुवाद लेकर रुद्रनारायण वहां आए थे। दोनों के प्रति उनका व्यवहार देखकर मुझे अचम्भा हुआ माना कि प्रेमचन्द दूसरे के प्रति अपने बर्तन में अपनी खुदी को बाद दे देते थे। याद पड़ता है इस पहले ही मौके पर मैं उनसे पूछ बैठा कि अखबार की नौकरी में पड़ने की ऐसी क्या मजबूरी उन्हें थी? छोड़िए छुट्टी लीजिए। आपकी कलम क्या आपके लिए सब-कुछ नहीं हो सकती? इस सवाल पर वह ताज्जुब से मेरी तरफ देखने लगे, समझ गए कि मैं अनुभव से कोरा हूँ पर नाराज नहीं हुए। जिन्दगी की अपनी लम्बी दास्तान ले बैठे। बताया कि बस एक नौकरी से दूसरी नौकरी में गए, इस मुदर्रिसी से वह मास्टरी की। आखिर प्रेस खोला प्रेस से तंग आकर उसमें ताला डाला घर बैठे। बोले सुनो एक जगह से पाँच सौ रुपये आने वाले थे, पर दिन इन्तजार दिखाए जाते थे आखिर एक दिन ढाई सौ रुपये पहुँच ही गए। सब नोट ज्यों के-त्यों मैंने श्रीमती के हाथ में दिए।

उन्होंने पूछा कितने हैं? मैंने कहा ढाई सौ।

झल्लाकर बोलीं, ढाई सौ, और जोर से हाथ को झटककर उन्होंने सारे नोट दालान में फेंक दिए, और मुझे उस वक्त वह सुननी पड़ी कि क्या बताऊं। तगी

म न्दिन गुजर रहे थे, सो तो था ही, लेकिन तब आस तो लगी थी पाँच सौ की रकम पर। उसकी जगह जो आये ढाई सौ तो पत्नी का धीरज छूट गया। पब्लिशर को तो क्या सब कुछ मुझको सुनना पड़ा। उसके बाद जो इस जगह का आफर मिला तो मैंने झट कबूल कर लिया। बताओ तुम क्या नहीं करते ? अब रोज रोज का तो रोना नहीं है।

दिल्ली लौटने के बाद फिर खतो किताबत का सिलसिला शुरू हो गया। दूसरी मरतबा मिलना हुआ तो कुछ बड़ी मजेदार बातें हुई। उस समय उन्होंने मकान बदल लिया था। एक दूसरे मित्र भी तब लखनऊ में रहते थे। उनसे बात हुई कि चलो प्रेमचन्द के यहाँ चलें। नौकर को हुक्म हुआ कि सवारी लाये। उसने इक्का लाकर खड़ा किया। मित्र ने डाँटकर कहा कि वढ़ऊर देख के सवारी ला! दुबारा अच्छा समझकर एक तांगा ले आया। मित्र की रुचि के लायक वह भी न निकला। आखिर एक फ सी रईसी बग्घी लाई गई। मित्र ने रेशमी शेरवानी पहनी, उसकी जोड़ का चुस्त पाजामा बन्यि पालिश की शू और सफेद झकझकी टोपी बाँकी करके लगाई पहुँचे प्रेमचन्द के यहाँ। वहाँ दरवाजे के पास आते हैं तो देखते क्या हैं कि बगल से उसी वक्त तेज चाल से चले आ रहे हैं प्रेमचन्द, बगल में छड़ी है दूसरे हाथ में झोला झोले में से तांबा साग सब्जी झांक रही है। बदन पर खाली एक कुर्ता धोती उसी नमूने की ऊंची बँधी हुई। साफ था कि कम्मों से लम्बी राह नापते आ रहे हैं। उस दृश्य के ये दो विरोधी नमूने भूलते नहीं हैं।

उसी क़याम में मैंने पूछा ये बताइये कि आपको कभी अपघात की भी सूझी है या सूझती है ?

बोले, कई बार, और एक तो अभी कुछ महीने की बात है। फिर आपने अपने जीवन का एक किस्सा सुनाया। सवेरे कुछ कहा सुनी हुई, और तय किया कि आज मर जाना होगा। दिन भर घूमते रहे कि आज किसी तरह घर वापस लौटना नहीं है घर को छोड़ना है। मगर या नहीं वालंटियर जो पिकेटिंग करते हैं वहीं चुपचाप किसी जत्थे में घुसकर पुलिस की लाठी से सिर तुड़वाकर मरना ठीक होगा। दिन भर इस कोशिश में भटके, पर सिर कहीं टूटा ही नहीं। शाम होने के बाद तीन घण्टे अकेले सन्नाटा मार एक बाग में बैठे रहे पर मौत नहीं आई और देखा कि ग्यारह बजे, वह अपने ही कदम घर वापस आ रहे।

प्रेमचन्द की हस्ती की सबसे बडी खूबी यह थी कि वह हर तरफ से साधारण थे। इस तरह वह जनता और जन के प्रतिनिधि थे। खास तो हर कोई बनना चाहता है, आम लोगो मे मिलकर खुद खत्म होना कोई नही चाहता। प्रेमचन्द की जसे वही साधना थी, और इसके लिए मेरे जैसा आदमी उनका जितना कृतज्ञ हो, थोडा है।

तीन

प्रेमचन्द जी पहली बार दिल्ली आए शायद सन १९३१ मे। उससे पहले इकट्ठा साथ रहने का मौका हमे नही आया था। लखनऊ एक दो बार मिलना हुआ था या बनारस एक आध रोज साथ रहे थे। अब तक मेरी निगाह मे वह लेखक थे। यहा जब साथ रहे तो यह ऊपरी रूप कही बीच मे नही रह गया। खाना खाने साथ बठने और बाद मे भी नीम की सींक से दात कुरेदते हुए वे मेरे साथ ही बठकर बात करते रहते। उस वक्त दो बुजुर्ग घर मे और थे। प्रेमचन्दजी की जगह उनके साथ थी। वे ऊँचे ख्याल के लोग थे और छोटी बातें अक्सर उनके पास नही फटक पाती थी। बातें देश की और दुनिया की होती, सुधार की और उद्धार की या किसी नीति के या तत्त्व के मसले की। मैं उन बातो के बीच अक्सर अजनबी रहता। अव्वल तो वहा रहता ही न था, पास हुआ तो बहुत सुनता भर रह जाता था। प्रेमचन्द को भी मैंने यही हाल देखा। बात गहरी हो रही है और वजनदार लेकिन प्रेमचन्द का सिर्फ सुनना है कहने को उनके पास गोया कुछ है ही नही। इससे ज्यादातर वह उन बुजुर्गो मे शामिल न होते और हम दो अलग थलग बठे गपशप किया करते। कोई अनजान उन दिनो घर पहुचता तो किसी तरह मालूम न कर सकता था कि प्रेमचन्द कौन हैं। उनका लिबास और उठने-बैठने रहन सहन का तरीका इस कदर घरेलू था कि कोई उन्हे अलग से पहचान ही न सकता था। एक बुजुर्ग उनमे पुराने ख्याल के थे। उनके पास सदा कुछ बताने और सुधारने का रहता था। हर बहस मे आखिरी लफ्ज उनका होता। यानी सही वही है जो उनका कहना है। इस तरह तीन चार रोज घर रहकर खासकर उन बुजुर्ग से वह बहुत कुछ इस्लाह और नसीहत पाते रहे। मुझे नही ख्याल कि कभी जरा उन्होने बुरा माना हो। जसे सीखने का वे अपना हक मानते हों और उन बुजुर्ग का हक सिखाने का।

एक रोज खाते-खाते उन्होंने पूछा—"भई! उन साहब की उम्र क्या होगी?"

मैंने बताया कि मेरा अंदाज तो यह है।

बोले—'क्या कहते हो?"

मैंने कहा—'एक-आध साल से ज्यादा का फर्क नहीं हो सकता। क्योंकि मैंने एक बार तस्दीक किया था।"

'तो वाह!" प्रेमचन्द कहकहा लगा कर हँसे—'यह खूब! तब तो यार बड़े हम हैं।"

यह हँसी जल्दी नहीं रुकी। मैं भी उसमें शामिल हुआ।

मैंने कहा—'इसमें आपको शक था कि बड़े आप हैं।"

बोले—"अच्छा, अब की कहूँगा कि अजी हजरत बड़ा मैं हूँ।"

वही हुआ। अगली मनचली मंडली बैठी और बहस शुरू हुई। प्रेमचन्द सुनते रहे सुनते रहे। बहस ने लिक्चर की शक्ल अख्तियार की और आखिर सबक-आमोज नसीहतें फिकने लगी। प्रेमचन्द जी ने मौका देख धीमे से पूछा—'पंडित जी! आपकी उम्र क्या होगी?' बुजुर्ग ने अपनी उम्र बताई। प्रेमचन्द ने कहा 'वाह! तब तो बड़ा आपसे मैं हूँ।"

यह बात ऐसे कही गई कि बुजुर्ग को कतई नागवार नहीं हुई बल्कि वह खुश हुए हँस आए और उसके बाद बातचीत आपसी और घरेलू सतह पर होने लगी।

यह चीज प्रेमचन्द की मुझे खास मालूम हुई। अपनी शख्सियत का वह कहीं भारी नहीं पड़ने देते थे। जैसे अपने को और अपने ख्याल को वजन के मानिंद वह अपने साथ नहीं रखा करते थे। हल्के रहते और कहीं घुल मिलने को तैयार। यह बात न थी कि अदब कायदे का उन्हें अहसास न था, बल्कि बेअदबी उन्हें सख्त नापसन्द थी। पर अपने को इस कदर फिकर और नफी बनाकर चलते थे कि अदब की गलती दूसरे को खुद ही महसूस होती। उन्हें उसे बताने की जरूरत न होती।

एक बार की बात है कि वे दिल्ली आए हुए थे। सन् ३५ के दिन होंगे। हाँ होली के करीब की बात है। यहाँ रेडियो से उन्हें कहानियाँ पढ़नी थीं। बनारस से वे आए थे और कोई खास खबर रेडियोवालों को देना उन्होंने जरूरी न

समझा था। यह इत्तिला उन्हें थी ही कि वे उस दिन दिल्ली पहुँच जाएँगे। रेडियो-वाले दिन भर परेशान रहे दौड़ धूप किया किए कि प्रेमचन्द कहाँ हैं। सवारियाँ दौड़ती रहीं कि वक्त पर प्रेमचन्द को ले आएँ। हम खरामा-खरामा घूमते हुए पैदल वक्त से कोई पाँच सात मिनट पहले सिविल लाइन्स की उस कोठी पर पहुँचे। लोगों की जान में जान आई और सनसनी फैली। रेडियो नया था और प्रेमचन्द हिन्दुस्तान के खास आदमी थे। खासी कोशिश से रेडियो उन्हें पा सका था। आखिर हम लोग एक बड़े कमरे में ले जाए गए। दरवाजे से हमारा दाखिल होना था कि दूसरी तरफ से एक सीधे लम्बे खूबसूरत जवान ने तपाक से बढ़ते हुए और यकबयक प्रेमचन्द को आगोश में ले लिया। बड़ी बेतकल्लुफी और गहराई से चन्द मिनिट बगलगीर रहे और फिर बड़ी तवाज़ो के साथ उन्हें ले गए।

रेडियो स्टेशन से वापस होते वक्त मुझसे आहिस्ता से पूछने लगे—

क्या जी वे बुखारी थे ?

हाँ।

बुखारी ! पतरस !! '

नहीं। '

तो फिर कौन थे ?

मैंने कहा—' आप तो इस कदर तड़प के उनके साथ हमागोश हुए और अब पूछते हैं !

मैंने समझा बुखारी होंगे। लेकिन " कहते कहते वे रुके। मैंने हँसकर कहा—' लेकिन क्या ?'

बोले—' कोई अजब हज़रत थे देखो न, ऐसे बढ़े चले आए कि मैं उनका लंगोटिया हूँ।"

मैंने कहा—' आपने उन्हीं से पूछा क्यों नहीं ?

बोले— क्या कहना भलमानस से पर जी में तो आया कि "

इस तरह मौके को प्रेमचन्द हमेशा निभा लेते थे। लेकिन दिमाग उनका इस किस्म की हर गफलत को बारीकी से रजिस्टर करता रहता था। पर मिफ्त यह कि उसमें फँसते न थे। मानापमान अपना नहीं मानते थे और इस तरह की घड़ियाँ उनमें कोई रंजिश या तपिन नहीं पैदा कर पाती थीं। सिर्फ उनकी याद के खाने में दर्ज होकर रह जाती थीं।

द्रष्टा और भोक्ता की यह भिन्नता थोडी बहुत तो सबके लिए जरूरी है। नहीं तो हम सदा शिकार बने रहे और खुद अपने तईं जी न पाएँ। हर चीज़ को मन में लें और उस पर कुढते रहें तो घायल-की-सी हमारी हालत रहेगी और ज़िन्दगी हम रस न दे पाएगी। लेकिन यह भिन्नता अक्सर काफी हम में नहीं हो पाती। प्रेमचन्द में वह पर्याप्त मात्रा में थी। दिमाग उनका चौकन्ना रहता था और दिल भीतर सुरक्षित। सुरक्षित से मतलब निष्क्रिय नहीं। बल्कि सहानुभूति उनमे हर समय जगी रहती थी। पर दिमाग बीच में जवाब देकर हर चीज़ को शिकायत के तौर पर नीचे उतार देने यह इजाजत वह दिमाग को न देते थे। इस तरह दुनिया में रहते भी उससे भी कुछ अलग थलग रह जाना उन्हें उतना मुश्किल न था। कहावत है— जल में कमल के समान। यह योगी के लिए कहा जाता है। योगी का तो मुझे पता नहीं पर प्रेमचन्द के साथ बहुत-कुछ मैंने घटता हुआ यह देखा है। यहा दिल्ली में हिन्दी के साहित्य-सम्मेलन का जलसा हुआ। बड़े-बड़े दिग्गज आए। प्रेमचन्द भी पधारे। यह अनहोनी बात थी, पर सच यह है कि असल सम्मेलन के लिए वह आए न थे। मैंने लिखा था इससे बात रखने को आ गए थे। खैर आ गए और ठहरा दिया गया। ठहर गए। मानो पचासक खाटों की लम्बी कतार के बीच एक उन्हें भी मयस्सर हुई। खासा रिफ्यूजी अस्पताल का-सा दृश्य था। अब रह रहे हैं तो रह रहे हैं। कौन किसकी शक्ल का याद रखता है। आखिर नहाए धोए और जहां मालूम हुआ कि खान-पीन का इन्तज़ाम है उधर बढकर गए तो वालंटियर ने कहा—टिकट ?

पर प्रेमचन्द के पास टिकट न था। उन्होंने पूछा—'कहा से मिलता है भई टिकट ?'

पैसे से लेना हो तो उस खिडकी से मिलता है, बस दफ्तर से।'

प्रेमचन्द खिडकी से टिकट ले आए और क्यू में खडे हो गए।

ठीक ऐसे ही वक्त मेरा उधर पहुँचना हुआ और उन पर निगाह गई। मैंने कहा— हज़रत यह क्या ?'

बोले— क्यू में खडे हैं टिकट लेकर।"

मैं उनको बाँह पकड कर बाहर खींचा कि जरा तो रहम कीजिए।

वह बोले— क्यो-क्यो ?

गोया वह इसी लायक हैं कि अपात्र समझे जाय और टिकटपूर्वक खाना पाएं। इसमें कहीं तनिक भी जैसे अयुक्त बात नहीं।

इन कथा के तीनों दृश्य जब चाहूँ मैं आँखों के सामने ले लेता हूँ और याद करता हूँ कि प्रेमचन्द क्या खूब आदमी थे? ☐



मैथिलीशरण गुप्त

शायद तीसरी क्लास में पढ़ता था। तब मैथिलीशरण गुप्त नाम मैंने सुना था। जाने कितने कानों में होकर वह मुझ तक पहुंचा होगा। प्रसिद्धि ऐसे ही कानों कान फैलती है। सोचता हूँ कि तब मैं क्या जानने योग्य रहा हूँगा। अक्षर पहचानना भर जानता हूंगा। पर जिस शाला में मैं था, उसके छोटे बड़े जाने अनजाने सब बालकों के सिर उन दिनों मैथिलीशरण जी और उनके पद्य ऐसे चढ़ गए थे कि हरेक यह दिखलाना चाहता था कि उसको अधिक पद्य याद हैं। मेरे कण्ठ भी तब कई पद्य बैठ गए थे। मतलब तो उनका पूरा हम क्या समझते होंगे फिर भी धरोहर की भांति सँतकर उन पद्यों को हम अपनी स्मृति में रखे रहना चाहते थे। और ढिठाई देखिए, अनुकरण में वैसी कुछ पद्य रचना भी खुद किया करते थे।

दिन बीतने के साथ वह नाम कुछ बड़ा ही होता गया। मन के भीतर वह ज्यादा जगह घेरता गया। जैसे उस नामधारी व्यक्ति को जबरदस्त आकार-प्रकार का भी होना चाहिए, नहीं तो हम नहीं मानेंगे। छठी क्लास में था कि सातवीं में उनके जयद्रथ-वध के खण्ड पाठ्य के तौर पर पढ़े। तब ऐसा लगता था कि मैथिलीशरण जाने क्या-क्या होंगे! बस पुराण-पुरुषोत्तम ही होंगे और चिरंजीव कोई अनुपम जीव होगा।

कौन जानता था कि करिश्मा होने में आएगा। लेकिन सन् '१४ के बाद सन् '२१ भी आया और करिश्मा सचमुच होने में आ गया। लेकिन जो हुआ, वह करिश्मा सा बिल्कुल नहीं मालूम हुआ। अरे मैंने देखा कि यह तो सारी बात एकदम मामूली बात की तरह हो गई! मैथिलीशरण एकदम मामूली आदमी हैं,

मेन्द्र हैं।

स्वर्गीय प्रेमचन्द के साथ की एक बात मुझे याद आती है। मैंने पूछा कि मथिलीशरण जी से तो आपकी खुली घनिष्ठता है न ?

बोले कि सो तो नही। हां, कुछ दिन लखनऊ म साथ रहना हुआ था। लेकिन यही राह रास्ती की यह दुआ सलाम है। आगे कुछ नही।

मैंने कहा कि यह तो हिन्दी का सौभाग्य नही है। नही-नही, आप दोनों को निकट आना होगा। निकट लाया जायगा। बोलिए, कभी चिरगांव चलेंगे ?

खैर उसी बात के सिलसिले म प्रेमचन्द जी ने कहा कि जने मुझे एक बडा अचरज है। मैथिलीशरण और सियारामशरण दोना भाइया को देखकर मैं हैरत म रह जाता । लक्ष्मण भी क्या रामचन्द्र के प्रति ऐसे होगे ? जनेन्द्र, दो भाई ऐसे अभिन्न कस हो सकत हैं ? मेरी तो समझ मे नही आता। कही मैंन उसम भेद नही देखा। या तो फिर दोनों म स किसी एक मे कुछ कमी है दम नही है, जान नही है। या नही तो फिर क्या कहूँ।

मैंने कहा कि दो सगे भाई झगडें क्या यह आप स्वाभाविक मानेंगे।

बोले कि और नही तो क्या। दस्तूर तो यही है। भाई सगे तो छुटपन के होते हैं। बडे होकर वे आपस मे भाई भाई तक भी क्यो रह ? लडने स उन्ह कौन रोकता है ? मैं तो देखता हूँ कि सगे भाई अधिकतर दुश्मन बनकर ही रहत हैं, स्पर्द्धा से वे बच नहीं सकते।

मैंन कहा कि दुनिया को तो मैं क्या जानू लेकिन सियाराम और मैथिलीशरण मे क्या, बल्कि सभी भाइया म सचमुच जरा भी भेद नही है। मैं तो चिरगांव कई बार हो आया हूँ।

प्रेमचन्द जी बोले कि यही तो ! प्रेमचन्द जी इस अपने विस्मय को कभी नही जीत सके। वह मानो उनके भीतर हल ही नही होता था। पर उधर जब यह बात मैंन गुप्त भाइयो को सुनाई तो उन्हें प्रेमचन्द जी के विस्मय पर बडा विस्मय हुआ। दो भाइयो के बीच कुछ अन्यथा सम्बन्ध सम्भव भी हो सकता है, मानो यही उनके लिए अकल्पनीय था।

तो, यह अन्तर है। शहरी के लिए अविश्वास स्वाभाविक है और परिवार का विभक्त होन जाना स्वाभाविक है। यहाँ तक कि पति पत्नी म भी पृथक् अधिकार की भावना हो आए।

पर यह नहरियत विशेषता से मैथिलीशरण जी के प्रयत्न से उनके परिवार को नहीं छू सकी है। मैथिलीशरण जी म इसकी छूत नहीं है।

इमसे वह अपने व्यवहार म हार्दिक हैं। ऊपरी लिहाज में चूक सकते हैं। अदब के नियमों में भूल कर सकते हैं, पर अपनी भूल म भी वह हार्दिक हैं और प्रेम का नहीं भूल सकते। हृदय को पीछे रोककर चलना उन्हें कम आता है।

मैं मानता हूँ कि पारिवारिक अर्थात पारिपार्श्विक वातावरण की इस सुविधा के कारण उनका काव्य संघर्ष जनित पीड़ा से इतना अछूता रह सका है। उसमें वेदना का उभार नहीं है जैसी कि सुरक्षित व्यवस्था है। वह दुर्दमनीय नहीं, मर्यादाशील है।

[तीन]

'नाम बड़े दर्शन थोड़े' उनकी पहली छाप मुझ पर यह पड़ी। शुरू म चाहे यह अनुभव मुझे कैसा भी लगा हो, पर पीछे ज्यों-ज्यों मैं जानता गया हूँ मालूम हुआ कि दर्शन को थोड़ा रखकर ही उन्होंने अपना नाम बड़ा कर पाया है। अपने चारों ओर दर्शनीयता उन्होंने नहीं बटोरी। बल्कि कहो कि वह उससे उल्टे चले हैं। रूप न होने आकर्षक नहीं पाया, इतने स ही मानो मैथिलीशरण स तुष्ट नहीं हैं। अपनी ओर से भी वह किसी तरह उसे आकर्षक न बनने दें मानो इसका भी उन्हें ध्यान रहता है। लिबास मोटा, देहाती और बुढ़वा। सज्जा यदि हो तो तदनुकूल और आधुनिक फैशन के प्रतिकूल। सिर पर बुंदेलखण्डी पगड़ी, घुटने तक गया कुरता और लगभग घुटन तक ही रहने वाली धोती। बाल इतने छोटे कि उन्हें चाहकर भी सँवारा न जा सके। शरीर कृश और श्यामल। मूछें बरीक उगती हुई जिसमें कोई छँटाव नहीं। मानो दीखने वाले समूचेपन स मैथिलीशरण घोषित करना चाहते हों कि मैं किसी सम्भ्रम के योग्य प्राणी नहीं हूँ। उत्सुकता का, या शोभा का, या समादार का पात्र कोई और होगा। मैं साधारण म साधारण हूँ। देखो न, मैं ऐसा तो हूँ कि जिसे जरा ऊपरी ढंग भी नहीं आता।

फिर भी सच यह है कि उनके ढंग म भी एक अपनी आन है। एक निजत्व है। और इधर की उनकी बड़ी मूँछों के साथ वाली छोटी दाढ़ी के फोटोग्राफ देखता हूँ तो रौब पड़े बिना मुझ पर नहीं रहता। कबूल करना चाहिए कि सामने-सामने होकर वह रौब मुझे अनुभव नहीं होता। क्योंकि वह मिलते ही

ऐसे खुल अपनापे के साथ हैं कि रौब विचारा क्या करे।

खर मालूम होता है कि अपने बारे में वह न गलत फहमी खुद चाहते हैं, न औरों म चाहते है। जो है सो हैं। न अधिक मानते हैं न अधिक दबते हैं। और जो है उससे कम कोई मानना चाहे तो उस भी छुट्टी है। लेकिन सच यह है कि कम माना जाना भी उन्हें पसन्द नहीं है। इज्जत म व्यतिरेक नहीं आ सकता। कुल के और अन्य प्रकार के गौरव की टेक उनमें है। उस मामले में वह दुबले भी हैं हठीले भी हैं।

प्रतीत होता है कि दुनिया में इस यथार्थ की स्वीकृति द्वारा वह अपनी महत्ता बना सके है। निषेध अथवा चुनौती मूलक उनका महत्त्व नहीं है। कि ही नये मूल्यों की प्रतिष्ठा उनके जीवन में नहीं है मान्य की ही मान्यता है।

[चार]

गम्भीर ? नहीं भाई, वह मैंने नहीं पाया। और अपनी जानें। मैं तो अपनी कहूँ। गम्भीरता की मैंने कमी पाई। कमी भी सोच समझकर कह रहा हूँ। किसी से बुरा मानने का डर न हो तो शायद कहूँ कि अभाव पाया। और कुछ मैथिलीशरण आवश्यकता से अधिक हों गम्भीर आशा से कम हैं। शायद आवश्यकता से भी कम हैं। मैं अनुमान कुछ करता था निकला कुछ। विद्वान को गम्भीर होना चाहिए। पर मैथिलीशरण जी के ऊपर विद्वत्ता दर्प के साथ टिकी मैंने नहीं देखी। बीच में चपलता झाक ही उठती है। कभी तो डर होता है कि क्या वह सचमुच पचास से ऊपर के हैं भी ? मालूम होता है कि जो भी हो पर अब भी बचपन है। जिसस बुढ़ापे की आशा हो उसकी जवानी हम बचपन न कहेंगे तो क्या कहेंगे ? धीमे नहीं चलते, तेज चलते हैं। कहीं पचास से ऊपर उम्र वालों का भाग-कूद के खेलों का भारतीय टूरनामेण्ट हो जाय तो मैथिलीशरण का नम्बर शर्तिया पिछड़ा नहीं रह सकता। जहां मैं सोचता रह गया हूँ वे कर गुजरे हैं। सड़क पर हम कई जन जा रहे हैं, एक बच्चा किसी की चपेट में आकर रास्ते की धूल में गिर पड़ा तो आप में पहले वह होंगे जो उसे उठाएंगे। सूझ बूझ उनमें जगी रहती है। परिस्थिति से वे दबने नहीं हैं। मानो परिस्थिति के प्रति दबंग रहते हैं। आधुनिक सूट बूट वाले समाज में भी अगर उनका पहुँचना हो जाय तो अपने देहाती बाने को लेकर वहां भी वे मन्द नहीं दीखेंगे। टी पार्टी होगी तो न चाय पीएंगे, न शायद कुछ खाएँगे। कदाचित फल भी न छूएँगे। पर उस पार्टी म

अपने परहेज के कारण असमंजस में किसी को न पड़ने देंगे। मिलेंगे बोलेंगे, हँसेंगे और अपनी चाल-ढाल की असाधारणता पर या कि परहेज पर मानो किसी का भी ध्यान तनिक न रुकने देंगे। गलती वह बड़े सहज भाव से कर सकते हैं, पर कुण्ठित व्यग्रता या असमंजस द्वारा अपनी गलती को डबल गलती बनाने की गलती वह कभी नहीं करते। मानो स्पष्ट व्यवहार से वह स्पष्ट व्यक्त रखते हैं कि (आपके) समाज का अदब कायदा कुछ है तो वह जरूर है। पर मैं जितना जानता हूँ, उतना ही जानता हूँ। अधिक नहीं जानना, इसकी लज्जा से अपनी उपस्थिति में मैं किसी को लज्जित नहीं होने दूंगा। आपकी उदारता के सम्मान में अपनी ही त्रुटि पर मन्दभागी जीवन का अपराध मैं नहीं कर सकता।

पर अदब-कायदे के प्रति अवज्ञा उनमें नहीं है। अवज्ञा किसी के प्रति नहीं है। इस बारे में वह कमजोर तक है। पुरानी परिपाटी का अदब कायदा उनसे नहीं छूट सकता। वह हरेक में शालीनता की आशा रखते हैं। छोटा छोटा है, बड़ा बड़ा है। सबको अपना पद देखकर चलना चाहिए। अपने प्रति भी अविनय उन्हें दुस्सह है। इसलिए कम कि वह उनके प्रति है अधिक इसलिए कि वह अविनय है। इसी से अविनय के लिए वह अपने समान किसी को क्षमा नहीं कर सकते। वह निवेदन तक झुक सकते हैं। हो सकता है कि झुकने में वह हद लाँघ जायं। पर किसी के मान को चुनौती दें यह असम्भव है। अपने से बड़ों को बड़ा मानते हैं और यह हो सकता है कि इसमें अपने में छोटों को भी बड़ा मान बैठें। लेकिन जिनको अपने से छोटा मानना होता है उनसे वह प्रत्याशा रखते हैं कि छोटा की तरह वह उनका मान रखकर ही चलें। वय की अवज्ञा उन्हें नापसन्द है। और वय की वृद्धता के कारण मूढ़ भी उनके निकट आदरणीय हो सकता है। विद्या बुद्धि नहीं, गुण भी उतना नहीं जितना सामाजिकता के लिहाज से मनुष्य मनुष्य के प्रति अपने व्यवहार में वह भेद करते हैं। राजा और रंक उनके लिए समान नहीं हैं। राजा को हुजूर कहेंगे रंक को तू भी कह देंगे। लेकिन दबेंगे राजा से नहीं, दबाएँगे रंक को भी नहीं।

सामाजिक मर्यादाओं को बुद्धि बल से इन्कार करके चलने की उनमें स्पर्द्धा नहीं है। वैसी रुचि और संस्कार ही नहीं है। व्यावहारिक समता उनके संस्कारों के प्रतिकूल है। हरिजन के अब जबदस्त कविता और जबदस्त उत्सग वह कर सकते हैं पर चौके की और बात है। और छूत छात—वह भी और बात है।

[पाच]

कवि म साधारण व्यक्ति से क्या विशिष्टता है ? शायद यह कि वह भावुक अधिक होता है। भावुक अधिक इसम गर्भित है कि सहनशील कम। दृढ की जगह उसे कोमल होना चाहिए।

मानव स्वभाव का विकास दोहरा होता है दो दिशाओं म होता है। एक ओर उपमा व्यक्तित्व की दी जाती है कि पवत की नाइ अचल वज्र की भाँति अनिवाय और कठोर, इत्यादि। य उपमाए म त महात्माओ पर फबती हैं। दूसरे तरह की उपमाएँ है कि कुसुमवत कामल जल सरीखा तरल, आदि। इन उपमाओ के योग्य कवि होते है। जैसे बारीक तार का कसा हुआ कोई कोमल वाद्य यन्त्र। तनिक चोट लगी कि उसम से झकार फूट आई।

मथिलीशरण किस कोमल वाद्य य त्र के समान हैं यह तो मैं नही जानता। सवेदन की सूक्ष्मता की सूक्ष्मता मैं क्या समझू। लेकिन वह अपन आवेशो को वश म रखने वाले महात्मा नही हैं। आवेशो के साथ बहुत कुछ सम स्वर होकर बज उठने वाला कवि का स्वभाव उनका है। बहुत कुछ सम स्वर कहा एकदम एक स्वर नही कहा। जो पूरी तरह अपनी ही तरगो क साथ एकात्म है उनम तो मानो अपना कुछ है ही नही। जो है, त्रिगुणात्मक लीला है। वे स्वय उद्वेलित नही होते। ऐसा पुरुष कवि होता है और अनायास महात्मा भी वह है। मथिलीशरण उनम नही है। पर अपने आवेशो के साथ हार्दिक वह अवश्य हैं। इसी से उनके काव्य म प्रेरणा है और सचाई है। आशा आया कि उनके क्रोध म नथने फूल आए आखें लाल हो गइ और गिराए मानो फटक उठी। यह हो सकता है। पर आशा बीता कि किस बात पर उनकी आखें नही डबडबा आएँगी यह आप नही कह सकते।

कभी कविता पाठ करते आपने उन्ह देखा है ? मैंने देखा है। उसम सगीत की बहार नही रहती। अभिनय कौशल नही रहता। पर जसे उनकी वाणी कविता के भाव के साथ एकरूप हो जाती है। जो नाद है मानो वही स्वर है। स्वर का आरोह भाव की लय पर मानो आप ही उठता है और भाव के उतरन के साथ मानो अवरोह स्वय शन शन आ जाता है। ध्वनि लय के अनुसार चलती है। कविता के भाव से अलग होकर मैथिलीशरण जी के काव्य पाठ मे श्रोता क लिए मानो रस की कोई बात नही रहती। जो कविता है, वही कविता का पाठ है।

मैथिलीशरण स्व कन्द्रित नहीं हैं। इसस उनकी कविता भक्ति की प्रेरणा म स आकर भी रहस्यमयी नहीं है, उपासनामयी है। न उसम चहुँ-ओर के दबाव की पीड़ा है। समस्या के भार स भरी हुई वह नहीं है। उसम आवदन और निवेदन का स्वर मध्यम है। उसम कुछ कुछ आदेश की वलिष्टता है, और प्रतिपादन की स्पष्टता है। उनका काव्य कथानुसारी है। वह घटना के साथ चलता है। वह आत्मलक्षी नहीं स्व परोपकारोपलक्षी है।

मैथिलीशरण कोमल हैं तो दूसरे को लेकर भाव प्रवण हैं तो दूसरे के निमित्त। माना स्वय म उनक पास कुछ खरचने को नहीं है। पुण्यश्लोक पुरुषों की गाथाएँ हैं और उनका ही गान उन्ह बस है। उसके आग अपना निज का आवेदन निवेदन क्या ?

[छ]

मुझे प्रेमचन्द की याद आती है। प्रेमचन्द निरीह थे एकाकी। मैथिलीशरण अमिश्र नहीं हैं उस अर्थ म अकेले नहीं हैं। प्रेमचन्द दुनिया को लेकर परेशान रहे। उसका सुधार करते रहे और अपना बिगाड करते रहे। कम म लोक सग्रह से विमुख रह चिन्ताओं म लोक समस्याओं स घिरे रहे। मैथिलीशरण लोक-सग्रह से उतने विमुख नहीं है और उनकी बुद्धि लोकोत्तर की ओर है। उनका इहलोक अस्त व्यस्त नहीं है। उनकी चिन्ता इसस सुविधा प्राप्त है। प्रेमचन्द मानसिक चिन्ता, यानी साहित्य स इस लोक के थे। ऐहिक काय क दृष्टिकोण से माना वह यहाँ रहत नहीं थ। पर मैथिलीशरण का साहित्य द्वारा लोकोत्तर स नाता है। ऐहिक विचार म वह ऐहिक है।

मशीन म मैथिलीशरण कविता स शायद कम दिलचस्पी नहीं लेत। कल-पुर्जों म उन्ह अच्छी गति है, और रस है। आपके यहा कोई पुराना इजन है तो मैथिलीशरण जी को याद कीजिए। वह जरूर कुछ आकर देंगे। और इजन ठीक होकर आज नहीं कल तो काम आयगा। व्यवहार मे व्यथता छूट जाय तो छूट जाय पर काम की बात उनसे नहीं छूट सकती। वह जब बनिये हैं तो अधूरे नहीं हैं। यह पक्ष उनम पूरा उतरता है। चाहे इस पक्ष म ब्राह्मणत्व उनका कुछ स्व भी क्यों न जाता हो। वह टोटे म रहना नहीं जानते। और टोटा है तो व्यवसाय का टोटा है जो कि लगा ही रहता है। यह नहीं कि वह पैसा कमाने के सम्बन्ध मे बहुत तल्लीन हो सकते हैं। मुझे जान पडता है कि द्रव्य विचार म उन्ह लीनता

प्राप्त हो नहीं सकती। पर व्यवसाय की बात में अचतुर उन्हें आप मत जानियेगा।

अपने सम्बन्धों के बारे में वह सावधान हैं। हर कोई उनका दोस्त नहीं बन सकता। पर दोस्त बनकर कुछ और नहीं बन सकता। उनका विश्वास महँगा है। फिर वह अपना बहुत अधिक नहीं बाँटते। वह भीड़ के आदमी नहीं। भीड़ में वह बाहर हैं। न वह भीड़ को दिशा दे सकते हैं न उसका साथ दे सकते हैं। वाणी उनकी मुखर नहीं और वह प्रवास भीरु तो क्या परिचय भीरु हैं।

रहन-सहन उनको अनायास सिद्ध है। कविता में नम्र और मुखर। सफर में तीसरा दर्जा। भूषा में सादगी। वेश में चिरगाँवता। प्रेम में अपरय प्रेम। वाणी में मित भाषण और साहित्य में सुरुचि। इन सभी के लिए प्रयासी को प्रयास लगता है। राष्ट्रीय व्यक्ति के लिए रेल का तीसरा दर्जा अभी तक सहज नहीं है वह गौरव का विषय है। किन्हीं को उलझन रहती है कि कोई उन्हें ऐसा किन्हीं को उलझन रहती है कि कोई उन्हें न देखे। यही हाल हमारे साथ सादगी का है। पर मैथिलीशरण जी को मालूम होता है कि दूसरी कोई बात मालूम नहीं।

वह अंग्रेजी नहीं जानते। पर अंग्रेजी में चलने वाली राजनीति का यह जानते हैं। सवेरे डाक आई कि चिट्ठियाँ देखीं। फिर अखबार ले लिए। अखबार जल्दी उनसे नहीं छूटते। वह बातों को जानकर नहीं जिन्हें जानते हैं उनके विषय में कुछ महसूस करके दम लेते हैं। वह अपने जानने को मानो हृदय के साथ भी जोड़े रखना चाहते हैं। इससे आधुनिक विचारधाराओं से वह अवगत ही नहीं रहते, उनके प्रति सहानुभूति रख सकते हैं। उनकी आस्था बौद्धिक नहीं है। बौद्धिक तल पर पर वह बन्धनहीन और उदार हैं और धीरता से प्रश्नों की गहराई छू सकते हैं। बारीक बातें उनसे नहीं बचतीं और मानस-सम्बन्धों की परख में वह सूक्ष्मदर्शी हैं। चिरगाँव से न टलना उनके हक में भोलापन ही नहीं है, साधना भी है। प्रकृति से अधिक वे साधना से कवि हैं। □



जयशंकर प्रसाद

—प्रसाद जी से मिलने की बात आपकी उत्कण्ठा में से निकली थी अथवा यूं ही संयोग मिलने का हो गया था। मिलने पर कैसे लगे आपको प्रसाद जी ?

—उत्कण्ठा में से ऐसे संयोग का आना कम सम्भव होता है। मुझमें इतना साहस ही न था न कर्मण्यता। सच यह कि साहित्य में मैं विचार से नहीं आया, न पात्रता से। एकाध कहानी मेरी लिखी छप चुकी होगी तब की बात है। आचार्य चतुरसेन जी पूछ बैठे, "और प्रसाद की कहानी तुम्हें कैसी लगती है ?" मैंने निर्दोष भाव से पूछा, "कौन प्रसाद ?" शास्त्री जी चकित रह गए। बोले 'ए प्रसाद को नहीं जानते ?' मैंने उसी मासूम भाव से कहा "नहीं तो ?' बोले, 'तब तुम कुछ नहीं जानते ? प्रसाद को जरूर जानना चाहिए।' लौटकर वहां से सीधे मैं लायब्रेरी गया। प्रसाद की 'कामना' उस समय वहां मिली। दूसरी पुस्तकें गई हुई थीं। 'कामना' मैं घर ले आया और तभी पढ़ गया। पढ़ना था कि प्रसाद के जादू में डूब रहना था। इसके कुछ ही महीने अनन्तर की बात है। इलाहाबाद कुम्भ का मेला था। वहां गया और वहां से बनारस। श्री नन्ददुलारे वाजपेयी की एक चिट्ठी दिल्ली में मुझे मिल गई थी। उसका सहारा था। सीधे उनसे मिलने काशी विश्वविद्यालय पहुंच गया। इधर-उधर की बातचीत में उन्होंने कहा 'चलो, प्रसाद जी के यहां चलें ?' ऐसे उनसे भेंट का संयोग आ पहुंचा। अन्यथा मुझमें अपनी शक्ति कुछ न थी।

मिलने पर कैसे लगे ? निश्चय अच्छे। पर कुछ दूर से लगे। दूरी शायद जरूरी भी थी। क्योंकि मैं अनजान बालक था। वे हिन्दी के कविगुरु ? एक

और भी बात हो गई। राह में वाजपेयी जी से एक चर्चा चलती आ रही थी, नीति और नैतिकता के बारे में। ऐसा लग रहा था कि हम एकमत नहीं हैं। मैं न दुलारे जी को अनीति का भी समर्थन करता मालूम होता था। वह अनीति को कैसे सह सकते थे। नीति का सीधा खण्डन या अनीति का सीधा समर्थन होता तो भी बात थी। पर शायद मैं ऐसा लगता था कि नीति-अनीति को घपले में डाल कर प्रश्न से और उसके दायित्व से बचना हूं। यहां उन्हें मेरे तक में कचाई लगती थी और वह उस पर प्रसन्न नहीं थे। मैं सचमुच निश्चिन्त नहीं था और अब भी नहीं हूँ। उसी विवाद को उन्होंने प्रसाद जी के समक्ष निर्णय के लिए रखा। पहले ही अवसर पर फैसला देने का काम अपने ऊपर पाकर उन्हें यूं भी शायद दूर ही रहना उचित था। वह पान की गिलौरियां बढ़ा-बढ़ाकर हमें देते गए स्वयं भी लेते रहे और सस्मित ध्यान से हम विवादियों की बात सुनते गए। मैंने कहा 'सस्मित ?' और यह व्यर्थ विशेषण नहीं है। आलंकारिक नहीं है यथार्थ है। उनकी यही स्थिति थी। यानी हमारी चर्चा पर वह वैसी ही सस्नेह कृपा से देख रहे थे जैसे अभिभावक उलझते बालकों को देखे। आप समझते हैं उन्होंने फैसला दिया ? फैसले में उन्होंने मुस्कराहट ही दी। उस मुस्कराहट को वाजपेयी जी अपने पक्ष में समझें लेकिन मैं भी अपने विपक्ष में नहीं समझ सका। यह प्रसाद जी थे। मुझे सचमुच अच्छे लगे लेकिन जैसा कहा निकट नहीं लगे। खुले नहीं लगे, जैसे कि प्रेमचंद पहली मुलाकात में लग सके ?

—यह बेगानापन जो उनके दूर का प्रतीत होने से झलकता है क्या इसमें यह सत्य निहित नहीं है कि प्रसाद जी ने अपने युग की समस्याओं का समाधान अतीत में से खोजने का प्रयास किया था ?

—वह सब मैं नहीं जानता। हर आदमी खुद होता है ? यानी दूसरे से भिन्न होता है। जैसे प्रसाद के लिए आवश्यक था कि वह प्रेमचंद न हों। इस अलगपन को हम कम-बढ़ की भाषा में तौलकर न देखें। व्यक्ति जैसा हो उसके होने में कुछ तो कारण होते ही हैं। कुछ पैतृक कुछ पारिपार्श्विक कुछ स्वाभाविक और प्रवृत्ति-जन्य। वह एक स्वतन्त्र अध्ययन का क्षेत्र है। मुझे उसमें जाना नहीं है। न वैसी वृत्ति है और न वह क्षमता।

—जाना तो चाहिए क्योंकि स्वयं उनके समकालीन लेखक प्रेमचन्द भी गए थे और उन्होंने एक पत्र लिखकर प्रसाद को जहां साधुवाद दिया था वहाँ उनके

गड़े मुर्दों का उत्खनन करने की भावना को ललकारा भी था और स्वयं प्रसाद जी ने उस पत्र को अपना नेता मानकर अपने साहित्य को प्रेमचन्द के आदर्शों की अनुकूलता देने का प्रयास भी किया था ?

—मैं समझा नहीं ? दिशा गन्तव्य है। इसलिए सभी उस एक दिशा में चलें तो भीड़ इतनी होगी कि गति न हो पाएगी। आखिर विशेषज्ञों के लिए कुछ छोड़ने दीजिएगा न ? हां, वह पत्र क्या था जिसका जिक्र आपने किया ? मुझे उसका पता नहीं है ?

—उस पत्र का आशय यही था कि प्रेमचन्द जी ने प्रसाद जी से यही चाहा था कि वह अपने युग की समस्याओं को लेकर जनता का नेतृत्व करने की कोशिश करें।

—तो प्रेमचन्द जी के इस चाहने के बारे में मुझसे आप क्या चाहते हैं ?

—यही कि प्रसाद जी ने अपने युग की समस्याओं पर आपकी समझ में कितना कुछ कहा ? या आप यह बताने की कृपा करें कि प्रसाद साहित्यकार के इस दायित्व को कितनी सीमा तक अंगीकार करते थे ?

—समस्या सब तात्कालिक होती है। जिस क्षण में है आदमी की अनुभूति उस क्षण से पृथक नहीं है। युग क्षण में नहीं कहना। दस वर्ष को दशाब्दी पचास को अर्ध शताब्दी, सौ को शताब्दी कहते हैं। युग दस वर्ष में बदलता है पचास में या कम अधिक में ठीक मैं जानता नहीं इसलिए युग की बात भी नहीं जानता। अनुभूति की अभिव्यक्ति का पात्र या माध्यम हम कहीं से खोज या चुन लें। आस-पास के वर्तमान में से उठा लें। अतीत में से ढूंढ लें या भावी में निर्मित कर लें। इस सबसे कोई विशेष अन्तर नहीं पड़ता। अनुभूति का दान उसका निस्व-विसर्जन उसका सफल अभिप्रेषण ही मुख्य बात है। वर्तमान में से जीते जागते समझे जाने वाले चरित्र को उठाकर हम अपनी निर्वीर्यता से मुर्दा बना सकते हैं। या अपने सर्वस्व के पूर्णार्पण से सहस्राब्दी पहले के माने-जाने वाले पात्र को प्रखर और प्रोज्ज्वल कर दे सकते हैं। या केवल कल्पना की सृष्टि से नए चरित्र दे सकते हैं जो काल की अपेक्षा इस या उस किसी युग के न हों और केवल कल्पना-लोक के हों। मैं नहीं मानता कि प्रसाद ने यदि ऐतिहासिक पात्र लिए तो यह प्रगति से विमुख हो कार्य किया। चन्द्रगुप्त और समुद्रगुप्त हो अतीत के और वह भी बीत चुके हों लेकिन पढ़ते हुए वे मुझे अपने भी मालूम हो सकें। वर्तमान स्वयं अपने में

य-न नहीं है। असल [redacted] अपन म कुछ है ही नहीं। अनादि अतीत और अनन्त भविष्य की रेखाओं का वह सम्मिलित बिन्दु है जिसकी अपनी काई इयत्ता नहीं है। इसस वतमान पर भी रहन का आग्रह मुझे समझ नहीं आता। जो है वतमान ही है। जो सजीव लगता है निश्चय उसम वतमानता क तत्त्व हैं। वतमानता वहाँ अविद्यमान है जहाँ या सब आधुनिक हो और भीतर प्राण का अवसाद भाव हो। जीवन का प्रत्यक क्षण वतमान है। इसीलिए जीवन को जगाने वाली यह स्मृति हम वतमान है जिसका स्रोत वर्षों पीछे हम स दूर चला गया, लकिन पड़ोस म हुई इसी क्षण की मौत हमारे लिए अवतमान हो जाती है। प्रसाद की कामना' को ही लीजिए उसक पात्र तो एतिहासिक भी नहीं हैं। व तो विदेह हैं—भावना दारीर। प्रतीकात्मक इतन ही स अयथाथ कहकर अपने से उन्ह दूर करत न बनता। वे भीतर उतरकर हम आपको मिलते हैं। मानना होगा कि प्रसाद क्या क वणन म भी कवि है। इसी स अपनी अभिव्यंजना क उपादान और उपकरण कुछ ऐस जुटात हैं, जो कल्पना से मनोरम हों और जिनको विद्यमान क सम्भ्रम से मुक्त होकर अतिमानुषिक, यहाँ तक कि अमानुषिक होने का सुविधा हो। कवि का काम हम-तुम जैस निरे साधारण जनों से न चल तो क्या हम यही न मान लें कि वह काम असल म है ही असाधारण। इसी स वह असाधारण क नियोजक की आवश्यकता म रहता है?

—क्या इसी असाधारण को कल्पना की पकड़ में लाने के लिए लेखक अतीत की खोज नहीं करता और इस प्रयास में जीवित वतमान के ऊपर अतीत के वतमान को लादकर समाज की वज्ञानिक प्रगति के माग का अवरोध नहीं बन जाता? प्रसाद जी को आप पुनरुत्थानवादी क्या नहीं मानते?

—वाद और वादी शब्द स मैं घबराता हूँ। क्योंकि इसम विवाद की चल कार है। आपने कहा पुनरुत्थान? उसके पहले मैं एक पुन और लगाने को तयार हूँ। मानो मैं पुन पुन उत्थान चाहता हूँ। अतीत क वतमान को सद्य वतमान पर लादने की इच्छा को अनिष्ट आप कह सकत हैं पर वह जो आज के इस समय के वतमान से तुष्ट है, उसस कुछ भी भिन्न और कुछ नहीं चाहता। उसे क्या आप जीवित तक भी मान सकेंगे? स्टेटस को के समथक को कौन महत्त्व द सकता है। वह तो आज म होकर आज ही चुप रहने वाला प्राणी है। उसम सम्भावनाएँ नहीं हैं। यानी तात्कालिक वतमान को हम किसी दिशा म परिणत हुआ देखना

चाहते हैं और उस अध्यवसाय म लगे हैं। इसी से हम अपने को जीवित मान सकते हैं। वह दिशा दोनो ओर जा सकती है। ऐतिहासिक की ओर और काल्पनिक की ओर। सूक्ष्मवृत्ति काल्पनिक की ओर जाती है। स्थूल चित्रीकरण के लिए इतिहास-गत अतीत सहज सुविधा प्रदान करता है। अतीत के इस उपयोग म मैं कुछ अन्यथा नहीं देखता।

प्रसाद पुनरुत्थान के चित्र म सोचते कहे जायें तो मैं असहमत न हूगा। उसके वादी को मैं नहीं जानता। प्रसाद भी मेरे जान म ‘वाद’ वादी नहीं थे।

रही बाधा की बात, सो समसामयिक किसी व्यस्त राजकर्मी से पूछिए। उसे वर्तमान के उद्धार के सिवा दूसरी चिन्ता नहीं है। खुलकर मन की कहें तो आपको मालूम हो जायगा कि हर कवि कल्पना विलासी है और हर कल्पक, हर स्रष्टा नित्य नैमित्तिक कर्म प्रगति के लिए अविचारणीय है क्योंकि उसमें साधक से अधिक उपाधक है।

—बताइए तो समूचे प्रसाद का कौन-सा पहलू आपको अधिक प्रिय लगा?

—शायद अविश्वास का पहलू। मेरे भाव म वह पहले बड़े नास्तिक लेखक हैं। प्रेमचन्द मूल म नास्तिक नहीं थे उनकी नास्तिकता ईश्वर के आसपास चुक जाती थी। बस वह विश्वासी थे, और बेहद मजबूती के साथ। आखिर की ओर वह कुछ ढिल लगते हैं। पर तब तक वह तिरोहित ही लगते हैं। लेकिन प्रसाद ने मस्तक नहीं झुकाया। हर मन मान्यता को सामाजिक हो कि नैतिक धार्मिक हो कि राजकीय उन्होंने प्रश्नभावक के साथ लिया। किसी को अन्तिम नहीं माना। कंकाल इसी से कितना भयंकर हो उठा है, मानो वाया की कमनीयता पर रीझने को तैयार नहीं हैं। शल्यक्रिया से भीतर के कदर्य और कुत्सित बाहर लाकर बिखेर देने म उन्हें हिचक नहीं है उनका यह रूप जो सांसारिक में प्रच्छन्न म उनका अपना और अत्यन्त निजीय था और जो उनकी रचनाओं म नाना रंगीन छायाओं म रंजित होकर प्रकट हुआ है मुझे अधिक प्रिय हुआ और है। देखने म वह अत्यन्त भव्य और मुघर नागरिक थे। कुरुचि-सूचक परिधान सम्भ्रान्त व्यवहार व्यवस्थित मुद्रा, यह सब उनके सांसारिक रूप के अनिवार्य तत्त्व थे। कुढंग उन्हें शायद कभी नहीं देखा जा सका। यह सब जैसे उनका धर्म था। मानो उनका जीवन कोई ड्राइंग रूम था। इसी से जितना लिखा उन्होंने अगोचर म लिखा। सुनते हैं वह रात म (ही) लिखते थे। जैसे दिन म जगत के थे रात की अकेली

घड़ियों म प्रपन होने पर आत थे।

मुझे वह निष्ट सम्य, कुलीन रूप उतना नहीं भाया। शायद इसी कारण कि वह इतना निर्दोष और सुन्दर था। उस पर शालीनता की छाप थी। इस वस्तु को मैं आत्मा स अधिक पैसे के साथ जोड़ता हूँ। मैं प्रसाद से मिला अनेक बार लेकिन एक साथ कभी अधिक बात क लिए नहीं। इसस सामाजिक रूप स उस प्राचीर को चीरकर वास्तव अन्त प्रवेश पा सका ऐसा मुझे आश्वासन नहीं है। इसी स मैंने कहा कि मुझे दूर लगे। दूर लगे और दूर लगते रहे। मैंने अनुभव तो किया कि आमन्त्रण है और भीतर भी प्रवेश मेरे लिए निषिद्ध न होगा पर मैं उसका लाभ न उठा पाया। शायद एक कारण यह कि प्रेमचन्द से मैं अभी अभिन्नप्राय था।

—आपने उन्हें पहले बड़े नास्तिक लेखक कहा। क्या इसका मतलब यह कि दमन के बजाय उपभोग और सयम की जगह आनन्द को उन्होंने खुला प्रश्रय और समर्थन दिया? क्या यह आप मानने देंगे कि शब्द से ही नहीं जीवन से भी उन्होंने यह प्रमाणित और पुष्ट किया?

—हां, और उनकी अन्तिम रचना 'इरावती' के गिनती के पन्ने पढ़कर यह बात स्पष्ट हो जाती है। नकार और निषेध को लेकर उठने वाले दर्शनों का उन्होंने प्राणपण से निराकरण किया। और उस दर्शन को प्रतिष्ठित करना चाहा, जो जीवन के प्रति निरपवाद स्वीकृति का निमन्त्रण देता है। हिन्दुत्व की उनकी ऐसी ही धारणा थी। बौद्ध और जैन परम्पराओं में उन्होंने वर्जन पर बल देखा और वह उन्हें किसी रूप में मान्य न था। मुझे लगता है जैसे उनके साहित्य का यह मूल भार—मूल कोण है। उनके नाटकों म यह अन्तर्भूत है।

इन्द्रिय निग्रह तप त्याग तितिक्षा आदि मूल्यों और मानों से असहमति और उनकी अवगणना देखने को उनकी रचनाओं में बहुत गहरे जाने की आवश्यकता नहीं है। इन मूल्यों के प्रतीक मात्र स्पष्ट ही लेखक की गहरी सराहना और सहानुभूति नहीं पा सके। लेखक की ओर से वे कहीं व्यग्य के भी पात्र हुए हैं। उनके जीवन म भी निग्रह को प्रधानता न थी। वह वदान्य था रसमय था रसाकांक्षी था। उसमें समीकरण की चेष्टा थी। स्खलन की भाषा म उस वृत्ति को गलत समझना है। किन्तु निश्चय ही दीखने वाले राग और रंग से भय का भी उन्होंने सहारा नहीं लिया जो कि अक्सर वैराग्य के मूल म हो सकता है।

उनकी अनिशय सम्प्रश्नता, प्रखर बौद्धिकता जैसा कि अनिवार्य है उन्हें उस जगह तक ले गई जहाँ खुद बुद्धि पर टिके रहना व्यक्ति के लिए सम्भव नहीं रहता। अपनी परिपक्व परिणति में बुद्धि यह स्वीकार किए बिना नहीं रह सकती कि वह अपर्याप्त है और श्रद्धा में भी पूरी हो सकती है। कामायनी का अभी कागज पर आरम्भ न हुआ था, मस्तिष्क में वह बन रही थी, उस समय की बात है। मैं बनारस जाता और हम लोग बनिया पार्क घूमा करते थे। प्रेमचन्द तो होते ही। कभी और भी दो एक साथ हो जाते थे। उस समय कई बार पार्क के चक्करों में उन्होंने कामायनी भी घुमड़ती हुई कथा सुनाई है। किताब में शब्द ठण्डे हैं। नाना भंगिमाओं और इंगिता में उस समय का वह वर्णन खूब ही प्रगल्भ हो आया था। उस ग्रन्थ में 'श्रद्धा' को पूरा और योग्य स्थान मिला है। इसका आशय यह न समझा जाय कि पहली मेरी स्थापना सदोष है। बल्कि यही कि श्रद्धा की स्वीकृति उन्हें बुद्धि द्वारा हो सकी है। जैसे बुद्धि माध्यम है श्रद्धा जिना उसके अगम है। यह मैं अपनी ओर से जोड़कर नहीं कहता। उन चक्करों की चर्चाओं की संगति में ही कहता हूँ।

—क्या 'कामायनी' के मनु के रूप में कवि प्रसाद के व्यक्तित्व का ही प्रतिफलन आप मानते हैं?

—साहित्य-सृष्टि में साहित्यकार अपनी परिपूर्ति ही खोजता है। इस दृष्टि से आपका कहना सही हो सकता है। बौद्धिक जीवन कभी सम्पूर्ण और सहज नहीं हो पाता वह द्वन्द्व से युक्त रहता है। द्वन्द्व की तीव्रता ही निर्द्वन्द्वावस्था की कामना उत्पन्न करती है। एस, से देह स्वयं समाहित होने को श्रद्धा की ओर बढ़ता है। वह अनिवार्य गति है। और चेष्टित न भी हो बौद्धिकता की परिणति उसी ओर है यद्यपि वह बस भर उससे यानी अपने भवितव्य से द्वन्द्व ही छेड़े रहती है। मनु में बिलकुल हो सकता है उन्होंने अपने उसको उतार देखना चाहा हो, जो वह सत्य में तो थे पर वास्तव में न हो पाए।

—किसी अपनी संस्मरणीय स्मृति का उल्लेख भी तो कीजिए।

—क्या सुनाऊँ? शायद सन् '३३ की बात है। भाई सच्चिदानन्द वात्स्यायन (अज्ञेय) ने कुछ कविताएँ अपनी छपानी चाहीं। जेल से उन्होंने लिखा कि क्या आप यह सम्भव कर सकते हैं कि प्रसाद प्रस्तावना के दो शब्द लिख दें। बनारस जाना हुआ तो हम—मैं और प्रेमचन्द—विधिवत् प्रसाद के यहाँ पहुँचे। विधिवत्

से आग्रह कि मिले सवेरे चक्कर पर भी थे पर प्रयोजन की बात के लिए अलग से जाना उचित था। मैंने 'मग्नदूत' की लिपि सामने की कहा कि मुद्दई जेल में है, खुद अपना मामला सामने नहीं रख सकता इसमें मेरी बात को दुगुना वज़न समझें। पहने पूछा 'कौन है?' मैंने कह दिया कि मैं आया हूँ कह रहा हूँ इसी से जान लीजिए। थोडी देर चुप रहे। बोले तुम कुछ चाहोगे यह मैंने नहीं सोचा था पर तुम भी न सोचा होगा कि तुम कहोगे और 'प्रसाद' न कर पाएगा पर विनोदशंकर व्यास को तो जानते हो कितना निकट है? अभी मैं उनके लिए भी कुछ लिखकर नहीं दे सका हूँ। अब तुम्हीं बताओ? मैंने कहा मुझसे न पूछिए क्योंकि मेरा बताना एकदम आसान है। लीजिए बताता हूं कि लिखना मान लीजिए और कुछ नहीं तो कारण यही कि अभय आपके लिए अनाम है जेल में है।

प्रसाद ने मुझे देखा। आधे मिनट मुंह नहीं खोला पर आँखें उनकी विवशता प्रकट कर रही थीं। आखिर बोले जनेन्द्र?

आगे न कह पाए और चुप रह गए। मैंने झेंप की हँसी हँसकर पाण्डुलिपि अपनी ओर खींची और कहा कि कहिए क्यारा तो आपके यहाँ से कभी कोई गया नहीं कब कुछ आ रहा है।

जलपान के आने की आशा हो चुकी ही थी। व्यस्ततापूर्वक उठे कि तश्तरियाँ आ उपस्थित हुई। इधर उधर की गपशप और हँसी मजाक होती रही। आखिर हम उठे।

प्रसाद ने उठते हुए कहा कहोगे तो तुम जैनेन्द्र कि एक बात तो तुमने कही और प्रसाद ने वह भी न रखी।

'क्या साहब' मैंने कहा यह कहना भी अब मुझसे छीन लेंगे आप? एक तो आपने बात रखी नहीं फिर हम यह भी न पाएँ कि नहीं रखी। कहिए प्रेमचन्द जी यह अन्याय सहा जाय और अपनी वाक्स्वतन्त्रता को छिन जाने दिया जाय।

प्रेमचन्द ने ठहाका लगाया। उसमें प्रसाद भी शामिल हुए। देखा कि उनके हास्य में कहीं कुछ नहीं है। वह निर्मल है और नासमझी के लिए कहीं ठहरने को वहाँ जगह नहीं है।

हम चले आए। प्रेमचन्द ने गली में कहा कि तुमने बदला ले ही लिया। मैंने

कहा कि बदला पहुँचा कहा ? वह तो ज्यों-का-त्यों मुझ तक लौट आया। प्रसाद को उसने छुआ कहाँ ? प्रेमचन्द ने कहा, 'बात ठीक है। खूब आदमी हैं प्रसाद ?"

समझा गया कि प्रेमचन्द और प्रसाद में बनती नहीं है। पर प्रेमचन्द के शव-दाह से लौटे तो देखा गया कि हम वहाँ तीन ही हैं—(घुन्नू-बन्नू की बात नहीं कहता। वे थे भी छोटे और अलग) शिवरानी जी हर ढारस के लिए प्रसाद को देखती हैं और मुझे भी वही सान्त्वना है। इस मृत्यु के बाद अपनी मृत्यु पास बुला लेने में उन्होंने एक वर्ष भी नहीं लगाया। कौन जानता है, इस जल्दी में प्रेमचन्द के अभाव का भी योग न था। □

यह मेरी धृष्टता भी हो सकती है क्योंकि क्रोचे महाशय को मैंने तो बिलकुल नहीं पढ़ा है।

सामयिक गति विधि का जो निरूपण भाषण के अंत की ओर था उसमें नामों की विशद सूची थी। कोई भाग्यवान ही नाम बचा होगा। वे नाम परस्पर किस सादृश्य या असादृश्य के द्योतक है, इसका विवेचन नहीं था। और मुझे माँग थी तो वैसे विवेचन की।

[तीन]

फिर दिन निकल गए। हिन्दी के साहित्य में या मैं साँस ले रहा था पर वहाँ क्या-क्या है इसका पता नहीं लेता था। शुक्ल जी का नाम सम्मेलन के सभापति पद के लिए जब-तब सामने आया यह मैंने जाना। उन्होंने इन्कार किया यह भी मैंने जाना। इसी काल के लगभग जाना कि वह विश्व विद्यालय में हिन्दी के आचार्य हैं। उनकी प्रतिष्ठा और गौरव और उनके प्रति लोगों की श्रद्धा से मैं प्रभावित हुआ। पर उनका लिखा बाँचने का अवसर तब भी नहीं आया।

अनन्तर किसी संयोग से उनका इतिहास हाथ पड़ा और जहाँ-तहाँ से देख गया। शरम की बात कह दूँ कि इतिहास मैंने यह टटोलने की इच्छा से खोला था। वहाँ मैं हूँ तो कहाँ और कैसे हूँ। ग्रन्थ देखकर ग्रन्थकार की गवेषणा और अध्यवसाय की शक्ति से मैं बहुत प्रभावित हुआ। लगभग आतंकित ही हो रहा। यह सब छान बीन और खोज-खबर कैसे की गई होगी फिर उस सबका एक क्रम में कैसे बाँधा गया होगा, इस सबका धैर्य कैसे उस पुरुष में रहा होगा ?

कि त्यौरस साल चिन्तामणि देखने का सुयोग मिला। उसको मैं पूरा ध्यानपूर्वक पढ़ गया। पढ़ते-पढ़ते मैं थका तो जरूर पर रस भी आया। और मुझे यह पाकर बहुत खुशी हुई कि शुक्ल जी की शक्ति, स्वतन्त्र होकर (क्योंकि अधिकांश रचनाएँ उनकी सामयिक प्रयोजनों को लेकर लिखी गई है) वहाँ लगती है जहाँ कि लगनी चाहिए। अर्थात मन के गूढ़ व्यापारों की तह खोलकर उनका मूलोदगम पाने के वह प्रयासी हैं। उस मूल स्रोत की शोध में वह किस हद तक गहरे पैठ सके मूल तक पहुँचे अथवा कि नहीं यह जुदा प्रश्न है। पर अपने तर्क को निर्भय भाव से उन्होंने उस दिशा में बढ़ाया यह सच है और यह बहुत है।

उसके बाद काशी सम्मेलन आया और वहां उनके चरणों में भी मैं पहुँच सका। तब 'साहित्य सदन' में 'आलोचना के मान' के पुनर्विचार का प्रश्न मैंने उठाया था। वही उनके सम्मुख रखा। चाहा कि वह इस पर अपने विचार का प्रकाश दें कि साहित्य का अंतिम समर्थन किन मूल्यों द्वारा परखा जाय? सौन्दर्य के मान से, नीति के लक्ष से अथवा कि सत्य की तुला से?

उनका दमा था और तरह-तरह की व्यस्तताएं थीं। तो भी उनमें से मैं आशा लेकर आया कि वह इस बारे में लिखेंगे और अंधकार को काटेंगे।

काशी के बाद यहीं आकर उनके इतिहास के नए संस्करण की बात सुनी। उसमें वर्तमान युग पर एक नया अध्याय जोड़ा गया था। नगेन्द्र जी से वह पुस्तक देखने को मिली तो उस जोड़ को देखकर सच कहूँ तो तृप्ति नहीं हुई। उनका वर्गीकरण ऊपरी लगा। जगह जगह ऐसा मालूम हुआ कि उन्होंने चलताऊ काम निवाह दिया है।

उनके विषय में मेरी जानकारी की गति रुक-रुककर बढ़ रही थी कि हाय, यह क्या? अकस्मात सुना कि वह इस दुनिया के अब नहीं रहे प्रस्थान कर गए।

[चार]

अपना सिर मैंने पीट लिया। कैसी ग्लानि की बात है कि अपने काल के साहित्यिक इतिहास के मान्य पुरुषों की कृतियों से उसी क्षेत्र में काम करने वाले हम लोग अनजान रह चले जायें। मुझे क्या हक था कि मैं हिन्दी में जीऊँ और कुछ भी न जानूं?

सो मैं अपने अनुताप को लेकर भाई नगेन्द्र की शरण गया। उनकी कृपा से 'तुलसी', 'जायसी' यथासाध्य देख गया, 'काव्य में रहस्यवाद' नामक निबन्ध पढ़ गया। इतिहास को फिर देखा और छुट पुट कुछ और भी बांच लिया।

यह सच है कि शुक्ल जी में हमने हिन्दी के इस युग के एक प्रबल पुरुष को खोया है। उनकी नींव मजबूत थी और वह अडिग थे। ब्यौरों में वह नहीं भूलते थे और सतह को भेदकर नीचे वस्तु की असलियत टटोलने की ओर उनकी वृत्ति थी। अध्यवसाय उनका उदाहरणीय था और पश्चिम के विचार से वह आक्रांत नहीं थे, यद्यपि उनसे उपकृत थे।

[पाँच]

हिन्दी साहित्य का इतिहास है और उसकी कड़ी हरिश्चन्द्र से नहीं दसियों

शताब्दी दूर स मिलती चली आती है इस बात को शुक्ल जी स पहले किसी ने
जाना भी था तो उसका विधिवत जतलाया नही था। शुक्ल जी ने वह दृष्टि प्रस्तुत
की। इतिहास और भी लिखे गए हैं पर यदि वे सकलन से कुछ भी अधिक हैं तो
शुक्ल जी की दी हुई दृष्टि पर ही आधारित है। ब्यौरो म फर्क हो सामग्री क
पेश करने क ढग म कुछ अतर हो, लीक वही है। फिर भी कहना होगा कि
इतिहास उन्होने जुटाया है जगाया नही है। अर्थात् सब मिलाकर उनका
इतिहास कोइ सदेश नही देता। सात आठ सौ वर्षों की सञ्चित ग्रन्थ राशि
सामने लगी हुई थी पर ऐसी निर्दिष्ट सरणियो की उदभावना नही हुई थी जिनके
अनुसार सुगमता से इस प्रभूत सामग्री का वर्गीकरण होता।' और इधर जब
से विश्व विद्यालयो म हिन्दी की उच्च शिक्षा का विधान हुआ, तब से उसकी
विचार शृखला इतिहास की आवश्यकता का अनुभव छात्र और अध्यापक दोनो
कर रह थे। इन्ही दोनो आवश्यकताओ क फल रूप शुक्ल जी का 'इतिहास
बना जो कि उन्ही कारणो से प्रेरणात्मक इतिहास होने म असमर्थ था।

स्पष्ट है कि अतीत के सम्बन्ध मे बहुत कुछ जानकारी वर्गीकृत रूप म
शुक्ल जी न प्रस्तुत की है। उसम काल विभाजन है और काफी विगत को एक
विशेष सगति म पिरोने की भी कोशिश है। पर वह अतीत के साथ आज के
वतमान को किसी घनिष्ठ सम्बन्ध म जोड सके हैं या उस अतीत को किसी सुस्पष्ट
क्रमागत रूप म दिखा सके हैं, यह सतोषपूर्वक कहना कठिन है। इस दिशा म
हिन्दी म प्रयत्न होने की आवश्यकता है। इतिहास शुक्ल जी के आगे चित्रवत नही
आ सका वह उनक निकट एक फाइल के रूप म था। इस प्रकार का इतिहास
भविष्य क लिए माग दशक नही होता न विधायक स्फूर्ति दे पाता है। साहित्य
का इतिहास सस्कृति का व्यक्त इतिहास है। क्या शुक्ल जी को इसकी पहचान
थी?

'तुलसी' और जायसी' हिन्दी आलोचना क क्षत्र म शुक्ल जी की विशिष्ट देन
हैं। य विवेचन बहुमूल्य हैं। अपने विषय को चारा-खूटा से पकड बाधकर फिर
उसम डुबकी लगात और रत्न चुन लात हैं। उनके प्रतिपादन म एक प्रकार की
व्यूह रचना है। जसे कोई प्रतिपक्षी हो और उस घेरकर वध करना हो। इसी
कारण उनके प्रतिपादन म शास्त्रार्थी के जसी प्रबलता और उग्रता आ जाती है।
मानो तथ्य क उदघाटन से ही शुक्ल जी तुष्ट नही उसे विरोधी से मनवा लेना

भी चाहते हैं। प्रतिपक्षी के प्रति अनुदार होना उनके लिए कठिन नहीं है। अधिकांश उनके व्यंग्य कटीले हैं। उनकी शैली में लोच नहीं है और दूसरे दृष्टिकोणों के लिए समाई नहीं है।

वस्तु को अपनी पारिपार्श्विक परिस्थिति से तोड़कर उसको अपने आप में एक ब--- वस्त मानकर आलोचना-व्यापार चलाने की पद्धति से मैं सहमत नहीं हूँ। शायद यह पद्धति आज दिन पुरानी भी समझी जा सकती है। अब तक विज्ञान की यही पद्धति मानी जाती थी। अन्य के सामंजस्य में नहीं, पर दोष व विरोध में एक वस्तु की यथार्थता और विशिष्टता को तीव्र करके देखा जाता था। पर ऐसे रस खण्ड-खण्ड होकर लुप्त हो जाता है, और सत्य जो अपनी प्रकृति से ही संयोजक और संयुक्त है, पकड़ से छूट रहता है। इसी से अब बुद्धि विश्लेषण के दाँतों से पकड़ने के बजाय रस-वस्तु को हृदय की सश्लिष्ट सहानुभूति में उतारने की सलाह दी जाती है। विभक्त करके नेति नेति मार्ग से वस्तु को पाने में कुछ मदद मिलती हो तो ले लो पर प्राप्यवस्तु तो स्वयं में अविभक्त ही है। इसलिए साहित्य के क्षेत्र में विभक्तिकरण द्वारा पाया जानेवाला रस-बोध नितान्त विश्वसनीय नहीं माना जा सकता।

कवि की कविता से लोग अपने नाना प्रयोजन साधते हैं। कोई रस लेते हैं, तो दूसरे ज्ञान और नीति लेते हैं। वस्त्र के एक थान में से अपने अपने मन के मुताबिक लोग कपड़े बनवा सकते हैं। उन छँटे सिले कपड़ों के तर्ज के लिए श्रेय वस्त्र के बुनकर को देना असंगत है। उसी प्रकार ज्ञान, या नीति या सुधार का प्रयोजन किसी काव्य से हम साध लेते हों तो उसका श्रेय हम ही हैं। अपने प्रयोजन की माप में नापकर हम कवि को नहीं समझेंगे।

शुक्ल जी ने कुछ इसी तरह की भूलें की हैं। तुलसी को, जो भीतर तक भीग निपट भक्त थे, शुक्ल जी ने नाना बनाव में देख दिखा डाला है। उनको विद्वान माना नीतिदाता माना, समाज-सुधारक लोक-संग्रहक, लोक नेता माना। मैं कहना चाहता हूँ कि यह कृपा आलोचक की अकृपा है। समझदार आदमी कवि को अपनी समझदारी की नाप-काट में देखने को लाचार हो, पर कवि कम ठीक-ठाक समझदारी का काम नहीं है, वह तो प्रीति के आवेग द्वारा सम्भव होता है। इस तरह मेरी प्रतीति है कि शुक्ल जी ने जिस रूप में तुलसीदास का ग्रहण किया, वह तुलसीदास का आन्तरिक स्वरूप नहीं आरोपित स्वरूप ही है। अर्थात् कवि

की आतरिकता को शुक्ल जी अपने अन्तर मे लने से पहले बाहरी लाभ लेकर ही बस मान रहे। उनका रुख वस्तुवादी रहा, आत्म-लक्षी नही। इससे तुलसी के 'मानस' के बहिरूप को प्रकाण्ड पाण्डित्य से वह बाँध सके पर उनके अन्तरग की भाँकी भी क्या उस घनिष्ठता से और दे सके ? ले सके होते तो व्यक्तिगत साधना वाले कहकर दूसरे सन्तो या भक्ति भीगे कवियो (जैसे कबीरदास सूरदास) से तुलसी का उन्हे विरोध नही, बल्कि सादृश्य ही दीखा होता। सच पूछिए तो परिचित अर्थ मे लोक धर्म प्रतिष्ठाता पुरुषो से तुलसीदास की कोटि एकदम अलग है और वह सूरदास, यहाँ तक कि कबीरदास आदि की कोटि से लगभग अभिन्न हैं।

पर शुक्ल जी ने मानस को उसके मूलोद्गम मे न जाकर उपयोगिता के धरातल पर अधिक परखा है और उसी दृष्टि मे से उन्होने तुलसीदास की अपनी धारणा खडी की है। धारणा वह विद्वज्जनोचित हो सकती है पर भीतरी असलियत से वानी है।

मुझे ऐसा मालूम होता है कि समाज-कर्मियो ने तुलसी के मानव मे से अपने काम की बहुत-सी सूक्तियाँ पाइ। इससे जाना कि मानस उन्ही को देने के लिए तुलसीदास जी ने रचा था। पर यो तो कहा जा सकेगा कि हमारे चौको को जल देने के लिए गङ्गा जी जनमी है। बहुता के बहुत कारज सिद्ध हुए, पर उन कार्यों की सिद्धि रचयिता की प्रवृत्ति प्रेरणा न थी। मानस' तो तुलसी के व्यक्तित्व का निश्शेष आत्म निवेदन है। तब समाज नीति उसम अपना निखरा रूप देखे तो अचरज नहीं ? पर कवि का दान नीतिदान नही, आत्मदान है। शुक्ल जी के तुलसीदास जाने क्या-क्या है पर 'मानस' के तुलसी राम चरण की शरण-गहे किङ्कर से अन्य कुछ नही हैं। कवि की इस आत्यन्तिक निरीहता को न पाकर उसकी सृष्टि के रूप-वैभव म हम अटक रहते हैं तो यह तो मसा ही है कि हम ईश्वर की इस रूपमयी माया को ही सब कुछ मान बठें और उसके भीतर के ऐक्य भाव की खोज से विरत हो जाय।

शुक्ल जी निष्ठा से उतरकर तर्क को सहारा मान कर चले हैं। इसी से काव्य म अवगाहन करते हुए काव्य मे ही रह गए हैं कवि तक नही पहुँच सके हैं। तुलसी को उन्होंने बहुत-कुछ अपनी तस्वीर म देखा है उनके मानस के बिम्ब मे नही। इसी कारण व्यक्ति साधना और लोक धर्म म भक्त्युपासना और लोक

व्यवहार म विरोध देखने को उन्हें लाचार होना पडा है।

भारतीय समाज ने तुलसी से जो पाया है वह तो भारतीय समाज जितना पा सका उतना ही है। अर्थात तुलसी न वह नही दिया है, क्योंकि तुलसी ने कुछ भी देने का दम्भ नही किया है। उन्होने तो अपने को ही सब का-सब राम चरणो म विनत और गीन भाव स वहा दिया है। अब उसम से जो पाए सो ले, और तुलसी को धन्यवाद भी न दे। कारण, जिसने अशेष भावन आत्म दान किया है उस प्रयोजन दान देन का श्रेय देना अकृतज्ञता ही होगी।

भावार्थ कवि कम जसा शुक्ल जी ने समझा वैसा नीति दान की, सुधार प्ररणा या लोक-सग्रह की आकाक्षा के सहारे होने वाला कम नही है। वह कोई बुद्धि व्यापार नही है। वह तो प्रीत्यावेश की लाचारी म हुआ आत्म निवदन है। शुक्ल जी ने अपनी उदारता और प्रगाढ विद्या म से इतना कुछ श्रेय तुलसी को दिया है तुलसी होते तो लाज म गड जाते। कहते कि मुझे छोडकर ह मेरे आलोचक भाई राम-नाम का स्मरण करो, क्योंकि राम की प्रीति का एक कण तुम्हारी नीति क कई मन से भारी है।

[छ]

मेरी लाचारी मैं ही जानता हूँ। अपने से बाहर मुझे अवलम्ब नही। इससे मेरे पास शका हैं पर निणय नहीं। इसलिए मैंने अपन विद्वान मित्र से पूछा—

'आप कहते हैं शुक्ल जी की कविता प्रथम श्रेणी की नही। तो इसका कारण?'

बोले— कारण क्या? यही कि कविता मे उन्ह उतनी गति न थी।"

'यानी उनम वह तत्त्व न था जिससे कविता प्रथम श्रेणी की होती।"

बोले— क्या यह जरूरी है कि कवि गणितज्ञ भी हो? ऐसे ही आलोचक अकवि हो सकता है।'

मैंने कहा, सो तो सही। पर जो किंचित अकवि है उसम तत्किंचित उस तत्त्व की कमी मानी जा सकती है न कि जिसका प्रकाश कविता है?'

मित्र न इस जगह मुझे मदद नहीं दी। मैंने कहा, अगर मैं कहूँ कि प्राणों स प्रीति की स्फूर्ति जब शब्द मे फूटती है तब वह कविता कहाती है तो क्या आप सहमत होंगे?'

बोले—'हाँ।"

मैंने कहा, "तो कभी प्रीति की स्फूर्ति की अपेक्षा ही काव्य की श्रेष्ठता न्यूनाधिक कही जा सकती है कि नहीं ?"

बोले— हाँ।"

मैं— यदि शुक्ल जी की कविता प्रथम श्रेणी की नहीं आप मानते, तो क्या कहने दीजिएगा कि स्फूर्ति भी कदाचित् प्रथम श्रेणी की न हो।

मित्र इस जगह बताने लगे कि अनमेल चीज़ों को मिलाना नहीं चाहिए। चाहिए कि आलोचना अलग काव्य अलग इत्यादि।

कहना हुआ कि आलोचना और काव्य के अन्तर को मिटाने का प्रश्न नहीं। पर व्यक्ति तो अपने में एक है। या वहाँ भी खाने हैं ? कविता वाले और आलोचना वाले शुक्ल जी अर्थ के लिए दो हों, पर क्या सत्य के लिए भी दो थे ?

मित्र ने अप्रसन्नता से कहा कि मैं साफ कहूँ कि मेरा मतलब क्या है। शुक्ल जी जैसा समर्थ न हिन्दी में हुआ न शायद हो। पश्चिम के बड़े से बड़े समालोचक के साथ खड़े होकर वह ऊँचे दीख सकते हैं।

मैंने क्षमा माँगी। मैं अनजान। मैंने क्या सीखा है ? बोला— शुक्ल जी को पढ़ते मुझे थकान हो आई। मैं मान लूँ कि मैं अपात्र था। पर स्फूर्ति का लक्षण है कि वह उँघाए नहीं जगाए। मैं जगना था जगने का इच्छुक था, फिर भी ऊँघ पड़ता था। मैं कहूँ कि वहाँ स्फूर्ति इतनी न रही होगी कि मुझे छूए, तो मुझ स्वार्थी को क्या इस दोषारोपण के लिए आप दोष देंगे ?'

बोले— 'ऊँची किताबें क्या सब पढ़ सकते हैं ?"

मैंने कहा—"ऊँचाई पर सबसे नहीं जिया जायगा। हवा वहाँ सूक्ष्म होती है। पर कहीं तो बड़े-से-बड़े और छोटे से छोटे आदमी में भी समता है। वह समता मूल प्राणों की है क्या यह आप मुझे मानने देंगे ?

बोले— हाँ।"

मैंने कहा— 'प्रतीत होता है कि उन्होंने बुद्धि की ऊँचाई पर से लिखा है उतना प्राणों की स्फूर्ति में से नहीं लिखा। उनके लेखन में अनिवार्यता नहीं प्रयास है। इसी से कोशिश भी उसमें नहीं है। क्या मैं यह नहीं चाह सकता कि रचना हो जो मुझे बरबस अपने साथ खींच ले जाय

मित्र ने मुझे बीच में टोका तो पर सुनना भी चाहा। मैंने कहा— वह

कशिश नहीं है तो मुझ पाठक को अवसर है कि उसके लाभ से वंचित बना रहूं। मैं दीन हूं, इससे कंजूस हूं। अपना लाभ खोना नहीं चाहता। इससे मेरी शिकायत सुनी जानी चाहिए। हिन्दी का परीक्षार्थी ही हिन्दी का पाठक नहीं है। जीवन की विषमताओं से जूझने वाला भी हिन्दी का पाठक है। वह क्या शुक्ल जी को न पढ़े? अपने आप में तो वह खींचते नहीं। मुझे बताइए कि जिसमें प्रसाद नहीं, प्राण-स्पन्दन नहीं, प्रीति की खींच नहीं, उसकी ओर कोई किस स्वार्थ से खिंचे? परीक्षार्थी परीक्षा में पास होने के लिए पढ़ता है। वह जीवन पोषक तत्त्व पाने के लिए थोड़े ही पढ़ता है। मुझे बताइए कि कोई जीवनाकांक्षा में या वैसी आवश्यकता से प्रेरित होकर उन किताबों को उठाए तो उनके फल तक पहुंच सकेगा? मैं तो कर्त्तव्य-बुद्धि के सहारे ही उनके साथ बढ़ता जा सका। नहीं तो उन्हें छोड़ चलना को जी होता था।'

मित्र ने कहा, 'कोई अभ्यास क्या मीठा होता है? तबियत लगने की बात है तो बाहर खेल-तमाशे हैं। तबियत लगाना है तो मेरे साथ शुक्ल जी की चर्चा लेकर ही क्या बैठते हो?''

मैंने कहा, ''अब तो सहज शिक्षा के प्रसन्न शिक्षा के, प्रयत्न चल रहे हैं। साहित्य आनन्द द्वारा शिक्षा दे देने का साधन ही तो है। बड़ी-से बड़ी वैज्ञानिक बातें खेल खेल में सिखाई जा रही हैं। ऊंची बातें जब अपने-आप में ही दुर्लभ होती हैं, तब शैली के श्रम से उन्हें और दुर्लभ बनाना अनुदारता ही न होगी? सच पूछो तो बड़ी बातों के मामले में तो प्रसादमयी शैली और भी अनिवार्य है।

मित्र ने निर्णय दिया 'शुक्ल जी गम्भीर हैं। हलकी मनोवृत्ति से उनको नहीं पढ़ा जा सकता।'

मैंने कहा 'क्या साहित्य को स्कूली और दिमागी कसरत का काम माना जाय? क्या यह सच नहीं कि बड़ी बात मस्तिष्क की राह हृदय में घुल मिल जाय इसका अंग बन जाय तो वह सरस भाव से सरल शब्दों में कही जा सकती है। जितना अधिक प्रयास उसके कहने में लगता है उतना ही शंका का कारण होता है कि वह अनुभूति में घुली हुई नहीं है।

जो हो, मित्र इस राय को न छोड़ सके कि गम्भीर साहित्य का पात्र हर कोई नहीं हो सकता। मैं अपनी अपात्रता मानता हूं। यह भी मान लेता हूं कि हिन्दी

के अधिकाश पाठको की पात्रता अधिक होगी। फिर भी क्या ऊँचे साहित्य को हम-जसो के लिए दुगम बनना होगा ?

[सात]

एक दूसरे मित्र से ठण्डी चर्चा के अनन्तर मैं इन परिणामों पर पहुँचा—

एक शुक्ल जी ने सत्य को आत्म-समपण द्वारा नही बल्कि बौद्धिक प्रयत्न वाद के द्वारा ग्रहण किया। परिणामस्वरूप त्याग की ज्योति और समन्वय की शक्ति उतनी उनमे नही आयी जितनी कि प्रतिपादन की प्रबलता और स्थिति धम के समथन की वाग्मिता प्रकट हुई।

दो वह स्थिति के प्रतिनिधि थे। गति के विपक्ष और स्थिति पक्ष क योद्धा के रूप म वह खडे हुए और जूझे। वह स्थिरासन थे।

तीन व्यक्ति और समाज को उन्होने अन्योन्याश्रय म नही, बल्कि व्यक्ति को समाज के निमित्त समझा। परिणामत उन्होने समाज नीति की कीमत काफी से अधिक और व्यक्तिगत साधन की कीमत काफी से कम आँकी।

चार सत्य क उस रूप को उन्होने स्वीकार भाव से नही बल्कि निषेध भाव से देखा जो स्थिति म परिवतन लाकर अपने को सम्पन्न करता है। अर्थात जीवन म प्रगति पक्ष की सत्यता को वह अगीकार नही कर सके। यानी स्व धम-निष्ठ से आग वह निज मत वादी थ।

पाच पारिवारिक धम से आगे अब एक नागरिक धम की आवश्यकता है जिसमे व्यक्ति समूचे समाज के प्रति अपने को दायी अनुभव करे और यह परिवार धम की ही प्रशस्ति है। इसका स्वीकार उनक लेखो म नही मिलता। अर्थात आधुनिक समाजवादी विचारो म जो सत्य है उसे वह न अपना सके।

छ उन्होंने इस अश मे वतमान का हित किया कि अपनी परम्परा स उसे बिछुडने न देने म अपनी शक्ति लगाई। अर्थात साहित्य म अनुत्तरदायी और उच्छृखल तत्त्वो को उन्होने उभरन से रोका।

सात वतमान को भविष्य की ओर बढने म उनसे प्रेरणा नही मिली सही, पर साहित्य म प्रतिगामी और हलकी प्रवत्तियों को उनसे अवरोध मिला।

आठ प्रतिपादन और खण्डन मण्डन की दढ़ता उनम पूवस्वीकृति अपने

मतवाद म से आती थी। अतीत का विवेचन और व्याख्यान भी उन्होंने तदनुकूल किया।

नो अपने और साहित्य-तत्त्व के बीच उन्होंने एक प्रकार के बौद्धिक हेतु वाद का अन्तर रखा। अर्थात अपने को साहित्यिक होते होते बचाया और हठात् अपन को साहित्यालोचक बनाया। आलोचना म भी वह आलोचक थे, जबकि सृजक हो सकते थ। □



शरच्चन्द्र चट्टोपाध्याय

शरच्चन्द्र चट्टोपाध्याय के देहान्त की खबर जब यहाँ के अँग्रेजी अखबार के एक कोने में पढ़ने को मिली तब अनुभव हुआ कि कितने गम्भीर भाव से उस नाम ने मेरे भीतर जगह कर ली थी। मेरे अपने लिए वह सामान्य घटना न थी। इतनी असामान्य थी कि मैं सोचता रह गया कि किस भाँति यह सम्भव हुआ कि भारत का यह समाचारपत्र चाहे फिर वह अंग्रेजी में ही छपता हो, ऐसे बमन भाव से इस सूचना को ग्रहण करे। हमने शरद को क्यों नहीं समझा? क्या यह बंगाल के ही जिम्मे रहा कि वह शरद को पाए, पाकर कृतार्थ हो और खोकर विकल हो जाय? सोचता हूँ, अगर ब्रिटिश नीति और ब्रिटिश भाषा की जगह भारत के पास अपनी राष्ट्र-नीति और अपनी राष्ट्रभाषा होती तो?

शरद का आविर्भाव एक विशिष्ट घटना थी। इससे उनके अभाव की घटना ऐतिहासिक ही हो जाती है। वह हम बिना छुए नहीं रह सकती। जो हमारे जीवन में अधिक वास्तविक, अधिक सत्य है, वह अधिक अभ्यन्तर भी है। उसी कारण वह परोक्ष है। शरद हमारे बीच उसी मार्मिक किन्तु परोक्ष तत्त्व के प्रतीक थे। प्रदर्शन से विमुख, लुब्धाकांक्षाओं से दूर, सहज सामान्य मानवता की वह प्रतिमूर्ति थे। असाधारण इसीलिए कि वह अन्त तक साधारण बने रहे। स्पर्द्धापूर्वक दूसरों को लाँघकर स्वयं आगे और ऊँचे दीखने की प्रवृत्ति उनमें मानो नीचे मुँह गाड़कर सो गई थी।

[दो]

शरच्चन्द्र का नाम मैंने जीवन में जल्दी नहीं जाना। किताबें पढ़ी थीं, और

पढ़कर मन हिल हिल गया था। उनकी कोई कहानी शायद ही बिना रुलाए रही हो। पर किताब के द्वारा स्वयं लेखक को पढ़ने की बात बहुत पीछे जाकर सूझी। कहानियां और उपन्यासों में घटनावली ही तो मुख्य है सो उस घटनावली तक ही पाठक की हैसियत से मेरा सम्बन्ध रहता था। तब उस पुस्तक के लेखक का नाम तक मानो अनावश्यक था।

मझली दीदी, 'बड़ी दीदी' 'परिणीता', पंडित जी चन्द्रनाथ' 'विजया' आदि मन की इसी स्थिति में मैंने पढ़ी। पढ़कर शरद की मँझली और बड़ी दीदियां ठीक-ठीक मानो वैसी ही दीदियां मेरी भी बन आई थीं। शरद के पंडित जी चन्द्रनाथ विजया एवं अन्य पात्र मेरे मन के निकट बहुत घनिष्ठ और प्रत्यक्ष बन-बन जाते थे। उनके दुःख के साथ मेरे मन में रोना उठता था। जी में अकुलाहट होती थी कि हाय, इन (पात्रों) पर पड़ने वाली विपता कैसे हो कि सब-की-सब स्वयं मैं झेल लूं। सहानुभूति ऐसी उमड़कर उठती थी।

इतना था पर शरद बाबू से मैं अनजान था। सृष्टि को देखता था उसमें मुग्ध भी था, पर स्रष्टा को मानो अनावश्यक ही बनाए हुए था। मेरी कैसी भारी मूढ़ता!

इस मूढ़ता का पार बहुत दिन बाद पाया। यह तमाम सृष्टि जिस स्रष्टा को व्यक्त करती है, उसको चितना कल्पना में न लाऊं तो सृष्टि को ही कैसे उपलब्ध कर सकता हूं। इस सबका स्रोत जहां है, समन्वय जहां है वहां क्या पीड़ा, क्या विछोह है क्या यह समझने का प्रयास मुझे नहीं करना चाहिए?

अपने अभ्यन्तरादभ्यन्तर में से क्या कुछ डालकर शरद ने अपने पात्र-पात्रियों को ऐसा सजीव और प्रत्यक्ष और प्रेरणामय बनाकर हमारे सामने प्रस्तुत किया कि हम माना अत्यन्त कृतार्थ भाव से अपना जी उन (पात्र पात्रियों) की मुट्ठी में दे बैठे? हमारे मन की बद्धमूल पुरुषता में अहंकार जड़ित हमारे नाना नकार निषेधों में शरद के किस अतर्क्य बल की ठेस लगी कि वे गलकर बहने को हो गए और मन कातर हो आया? किस भांति यह हो सका जानना कठिन है। पर इसके अतिरिक्त जानना ही और क्या है?

सपने सभी लेते हैं। वे मनोरथ से मनोरम हैं, क्योंकि वे स्वप्न हैं। उसमें सत्यता नहीं यथार्थता नहीं। वे इतने सूक्ष्म हैं कि स्थूल के स्पर्श पर छू हो जाते हैं। इससे वे हैं, यह भी झूठ हो जाता है। हमारा स्वप्न हमारे पास ही झूठ है। हम

जगे नहीं कि वह उड जाता है। अपने ही सपन को पकडना कितना कठिन है। वह याद तक म नहीं बँधता।

और स्वप्न क्या हैं? क्या वे हमारी ही अतप्रिया क रूप नहीं हैं? आकाक्षाओ क छार नहीं हैं?

अपने भीतर निर तर वतमान उन स्वप्निल भावनाओं का अपन ही समक्ष प्रत्यक्ष पाना कितना दुस्साध्य है। सम्भव तो है पर कितनी असम्भवता क साथ सम्भव। उसक बाद उन्ही स्वप्नोपम भावनाओ को अपन से अ य किसी के मन के भीतर उपलब्ध करा देना कितना दुस्साध्य होगा? क्या यह काम कभी चतुराई के बस का हो सकता है? केवल मात्र कौशल स हो सकता है? लोग जो कहें पर शरद न यह काम किया और इस खूबी स किया कि अचम्भा होता है। कह लो शरद को आर्टिस्ट, लकिन तब आट चतुरता नहीं है वह आत्मदान है। शरद ने अपने भीतर के दुलभ को उपलब्ध करन की राह म उसे हमारे लिए भी यत्किंचित् सुलभ कर दिया। उन्होन अपनी रचानाओ द्वारा जो चाहे पाया हो पर हमने तो उनम बहुत-कुछ अपना मम पाया। शरद ने अपने को देकर पाया है। जान पडता है उन्होने अपन भीतर कुछ नहीं छोडा बूद-बूद दे डाला है।

यह आत्मदान की लाचारी क्या? दुनिया म सब अपने अपने को बटोरत दीखत हैं। तब यह व्यक्ति क्यो अपने जीवन म मानो दोनो ओर बत्ती लगाकर जलता रहा? क्या इसलिए कि हम प्रकाश देना चाहता था? छी यह कहना आग की जलन को मिठास कहना है। मर पास एक ही उत्तर है। वह यह कि वह व्यक्ति महाप्राण था। महाप्राण पुरुष अपने स्वभाव म यह दुर्भाग्य लाते हैं। दुनिया कहू उसे प्रतिभा, लकिन वह भीतर तक करुण पीडा की बनी होती है।

तभी तो उनके पात्र चित्र नहीं हैं। चित्र म गति-परिवतन नहीं होता यानी रूप होता है स्पन्दन नहीं होता, आत्मा नहीं होती। शरद की मूर्तियाँ इतनी आत्ममयी हैं कि उन पर हम आप विवाद ही कर सकते हैं, अधिकार नहीं कर सकत। उनम अपना जीवन, अपना स्वभाव है इस कारण वे सब इतनी अबूझ है कि दो व्यक्ति उन पर एक राय नहीं रख सकते। शरद ने जो कुछ उनके द्वारा करा दिया है उससे आग और उसके अतिरिक्त मानो कोई उन मूर्तियो से कुछ नहीं करा सकता। पुस्तकगत स्थिति स भि न परिस्थिति म वे पात्र पात्रियाँ क्या करती, लाख विवेचन कर भी मानो कोई निश्चित निश्चय नहीं हो सकता है।

व पात्र सजीव है, इससे नियम निर्मित नहीं हैं। उसकी सृष्टि का सार शरद की अपनी आत्मा में ही है। आत्मा देशकालातीत होती है। वह भाषा की परिभाषा में नहीं थामी नहीं जायगी। जीवन बहिर्मात्र है क्योंकि उसका उस स्थान से उद्गम है जहाँ से अनुमति लेकर स्वयं काल चलता है। शरद के चरित्र उसी में अनुप्राणित हैं। इसस उन पर कभी विवाद की समाप्ति नहीं हो सकती। माना उनका प्रेम उन्हीं के भीतर बन्द है। भीतर में ही वह मिलन–जो मिलन बाहर में वह समझ की पकड़ में न आयगा। शरद ने अपने में से कुछ इतने गहरे की वस्तु उनमें डाली है कि उसे जाना नहीं जा सकता अनुभूत ही किया जा सकता है। मेरे विचार में स्वयं शरद ने अपने पात्रों को जानने की स्पर्द्धा नहीं की। शरद का नाता उनसे प्रेम का नाता था। प्रेम यानी उत्तरोत्तर अभिन्नता। विश्लेषण का नाता नहीं जिसकी शर्त है द्वित्व और पार्थक्य।

इस सिलसिले में क्या मैं कहूँ कि रवि ठाकुर और अधिकांश अन्य पाश्चात्य लेखकों का अपने पात्रों के साथ सम्बन्ध इतना विशुद्ध प्रेम अर्थात् एक्य का नहीं होता। बीच में कहीं माना विज्ञान को आ घुसने के लिए दुराव भी होता है। आधुनिक भाषा में यह तो वे अपने पात्रों के प्रति, और जगत के प्रति प्रेमी से अधिक धीमान (intellectual) हैं।

[तीन]

ठीक सन मुझे याद नहीं। शायद ३१ की बात है। श्री चन्द्रगुप्त विद्यालंकार संसार की सर्वश्रेष्ठ कहानियों की एक पुस्तक हिन्दी में छपा रहे थे। भारतीय कलाकारों की बात करते हुए बोले—'भारत की ओर से इस संग्रह में मैं दो कहानियाँ देना चाहता हूँ। क्या राय है?'

मैंने पूछा— आप क्या सोचते हैं?

बोले— शरद को मैं भारत का सर्वश्रेष्ठ कहानी लेखक मानता हूँ। रवीन्द्रनाथ की कहानी तो जायगी ही। उनकी कहानी क्या एक एक नगीना है। पर शरद की कहानी कोई छोटी नहीं मिल रही है।'

मैंने कहा—'हिन्दी की पुस्तक में प्रेमचन्द की अनुपस्थिति खलेगी?"

बोले— लेकिन भाई प्रेमचन्द शरद रवीन्द्र के बाद आते हैं। क्या, नहीं?'

आखिर पुस्तक में प्रेमचन्द की कहानी दी गई और शरच्चन्द्र की नहीं दी जा सकी। इस पर चन्द्रगुप्त जी का मन खिन्न था। पर शरद की छोटी कहानी भी

दुलभ हो रही थी।

बोल—"शरद को मैं निश्चित रूप में भारत का सवश्रेष्ठ कहानीकार मानता हूँ। जानता हू मैं वह बात दोहरा रहा हूँ। पर बार बार उसको कहकर मानो फिर कहने की इच्छा रहती है। रवीन्द्र की और बात है। साहित्यकार शरद से कहीं बड़े वह हा और हैं पर कहानी की जहाँ चर्चा हो, वहाँ शरद शरद हैं। क्यों, क्या नहीं ?'

मैंने तब कहा था (कहा था, अब नहीं कहता) कि मुझमें वसी श्रद्धा नहीं है। शरद हाँ अच्छा लिखते हैं। पर जान पड़ता है कहीं से कोई लटका उन्हें हाथ लग गया है। एक गुर पा गए हैं बस उसी को हर जगह इस्तमाल कर जाते हैं। लिखिए न, हर कहानी मे घूम फिरकर वही बात वही बात।

श्री चन्द्रगुप्त सुनकर मेरी ओर देखते-के देखत रह गए थे। मानो मेरी धष्टता सह्य हो सकी तो इसी से कि बेहद अप्रत्याशित थी। उस समय तो जैसे क्रोध भी उनसे न करत बना।

मैंने कहा— सुनिए शरद एक काम लाजवाब खूबी से करते हैं। वह खूबी है और बेनाक लाजवाब है। लेकिन लाजवाब हा चाहे कुछ हो बस वह अकेली खूबी ही उनके पास है। स्त्री और पुरुष के प्रणय और मान क सम्बन्धों का जो चित्र वह खींचकर रख देत हैं क्या वह चित्रण कहीं और भी मिलेगा ? लेकिन दुनिया स्त्री पुरुष प्रेम नहीं है। वह और भी बहुत-कुछ है। सो समूचे जीवन पर उनकी पकड़ साधिकार नहीं है। असल म जीवन दशन उनका एकांगी है। कहता तो हूँ कि कहीं से गुरु मन्त्र पा गए हैं। उसी के बल पर चमत्कार सा दिखा देते हैं।'

चन्द्रगुप्त जी ने मुझे तरह-तरह से समझाया—तक से भी आग्रह से भी, झिड़की से भी। कहा कि कहानी कला के बारे मे ऐसी अहकृत और उथली और भ्रान्त धारणा बनाकर चलना अपने हक मे मेरे लिए अशुभ होगा। लेकिन मैं न मान सका। कहता रहा कि शरद की खूबी आकस्मिक है, गहरी नहीं है शरद म रमी हुई नहीं है। एक प्रकार का रचना-कौशल है अधिक नहीं है।

मैं नहीं जानता अगर ऐसा मानने वाले और लोग हों। लेकिन मैं यह जानता हूँ कि आज मैं ऐसा नहीं मानता हूँ। आज अचरज करता हूँ कि वह सब मैं किस भाँति कह गया हूँगा।

इस परिवतन का कारण है। कारण यह कि दो (अथवा अधिक) व्यक्तियो के परस्पर सम्बन्धो के विकास अथवा विचार म जो मूल सिद्धान्त काम करता है, वही ता है सत्य। उसके अतिरिक्त ज्ञेय और क्या है। क्या जो यह अनकता की ओर दुई की माया चारो ओर फैली है वह अपने-आप मे जानन योग्य है? वैचित्र्य क्या अपन आप म अथकारी है? अपन अपन खाना म बँटा टूटा वर्गीकृत ज्ञान क्या सचमुच सत्य है। वह सत्य हो कस सकता है। फिर ता सत्य विभक्त और खडित ठहरेगा। इसस उस प्रकार के लौकिक ज्ञान का समग्र रूप म मूलाधार जहा है सत्य भी वही है। और लौकिक ज्ञान हितकर है तो तभी जब वह उस परम तत्त्व को प्रकाशित और विशद कर जहा अनक का ऐक्य और समस्त का समन्वय है।

व्यक्ति सच है कि पदाथ ?

व्यक्ति सच है कि समाज ?

एक व्यक्ति सच है कि दूसरा व्यक्ति ?

य मूल प्रश्न जब सामन खडे होते हैं तो जान पडता है कि सत्य किसी दूसरे को छोडकर किसी एक म नही है। वह कही भी एक जगह नही है। पदाथ म नही है व्यक्ति म नही है समाज म नही—वह एक एक म नही है। वह अनेक के ऐक्य म है। वह एक्य है।

अथात जो किन्ही दो को दूर से पास करता है, और पास से इतना पास करना चाहता है कि वे दो एक हो जायें जो बिना इतना किये चन लेता नही और न चन देता है—जगत म यदि कुछ ज्ञातव्य है, तो वही तत्त्व ज्ञातव्य है। वह है प्रेम। लिखने पढने द्वारा अथवा व्यवसाय-तपस्या द्वारा यदि कुछ भी हम खोजना है जानना है पाना है, तो वह वही प्रेम है।

शरद न यदि लौट-लौटकर अपनी रचनाओं मे मानव प्रेम (स्त्री पुरुष) की चर्चा की उसी की व्याख्या की, तो समाज हित की दृष्टि से, लेखक की हैसियत से, इसस और अधिक करणीय वक्तव्य दूसरा हो कौन सकता है। अन्य बौद्धिक बातें ममता हैं। वाद और विवाद बहुत स चल सकत हैं, चल रहे हो हैं। लकिन उनके भीतर व्यथा बहुत है सिद्धि यत्किंचित भी नही है। उनके ऊपर दूकानदारी चल सकती है, लडाई वन सकती है मानव हित-साधन उनसे असम्भव है। प्रेम का योग नहीं तो बौद्धिकता जडता है और बन्धन है।

इसलिए शरच्चन्द्र ने अनावश्यक को छोड़कर आवश्यक को पकड़ा, जबकि उन्होंने राजनीति एवं समाजनीति देशोद्धार अथवा समाजोद्धार की चर्चा की। स्त्री पुरुष के मध्य खिचाव की वेदना जितनी सघन और सूक्ष्म रूप से शरद चित्रित कर सके हैं, मैं मानता हूं उतने ही अंश में वह अपने को ज्ञानी प्रमाणित कर सके हैं। षडदर्शना या पण्डित क्या दार्शनिक है मैं नहीं जानता। पर शरद खरे दार्शनिक हैं यह मैं कृतज्ञ भाव से स्वीकार करना चाहता हूं। कलाकार का मैं और अर्थ नहीं जानता। कलाकार गतिशीलता में सत्य को बूझता है पण्डित का सत्य निस्पन्द है।

ऊपर कहा गया कि समाज हित की दृष्टि से जो सर्वाधिक आवश्यक है, वह शरद ने किया। समाज मानव सम्बन्धों को लेकर बनता है। शरद ने उन सम्बन्धों के भीतर भावना की उष्णता और आर्द्रता पहुंचाई। समाज के भिन्न पन्स्थ लोगों को (पुरुषों को स्त्रियों को) उसने मानवता के पैमाने से नापा और नापना बताया। समाज में जो ऊंचा है, वह वहां ऊंचा हो अथवा नहीं भी हो। कौन कहां किस जगह को भर रहा है यह तो बाह्य परिस्थितियों पर अवलम्बित हो सकता है। मुख्य प्रश्न यह है कि वह वहां अपने स्वधर्म के मध्य कैसे वर्तन करता है। शरद ने इसी भीतरी दृष्टि (कोण) से मानव समाज को देखा और दिखाया। इस व्यापार में जितने सहानुभूतिपूर्ण और सहज साम्य के साथ शरद ने कर्त्तव्य पालन किया उतना कम देखने में आता है। रवि ठाकुर तक में पक्ष समर्थन है। प्रेमचन्द में तो वह खूब उभार में है। इधर रूसी विचार से प्रभावित साहित्य में वह बहुत उग्रता में है। शरद की सहानुभूति व्यापक है यह कथन इस कारण यथेष्ट नहीं है, क्योंकि वह सब कहीं एक सी गहरी भी है। धीमान (intellectual) की सहानुभूति और भी व्यापक हो सकती है पर उसमें क्या अनुभूति की गहराई भी होती है? शरद में विस्तार कम है तो घनता उस कमी को पूरा कर देती है। तात्त्विक गहनता उतनी नहीं है तब प्रसाद सविशिष्ट है। उनकी रचनाओं में कहना कठिन हो जाता है कि कौन शरद को विशेष प्रिय है कौन नायक है कौन प्रतिनायक कौन खल। जान पड़ता है जैसे सब बस स्वयं हैं।

पर व्यक्ति की विशेषता ही उसकी मर्यादा भी होती है। शरद समाज हित की दृष्टि से बहुत प्रभावक और उपादेय हैं (उनकी लोकप्रियता देखिए!) तब आत्म हित की दृष्टि उस साहित्य में विशेष नहीं है। शरद में व्यक्ति और समाज

स ा परस्पर सम्मुख रहे हैं। व्यक्ति और विराट, व्यक्ति और समष्टि का सामुख्य वहा नही के तुल्य है। उनकी नायिका बँगाली नारी समाज की उसी सदस्य है, क्या वसी हा मानव-नारी समाज की भी है? शायद नही। उनसे आगे बढकर क्या कोई ऐसी भी है, जो नर नारी के भेद म (मानसिक स्तर पर) ऊची हो जाती है? नही, एसा तो बिलकुल नही। कोई पुरुष पात्र नही है जिसके लिए मध्य बि दु कोई सदेह नारी न हो कुछ और हो। और कोई नारी नही है जिसने देह धारी पुरुष को लाघकर इसी भाति किसी एक सकल्प को समपण अथवा वरण किया हो।

जहा प्रश्न उस तल तक उठता है वहा भारत म हमारी आख बरबस रवी द्र की ओर उठ जाती है। रवी द्र के पात्र समाज के हतु से नही बल्कि मानो अपने भीतर से ही, मानो समूची प्रकृति के ही साथ द्व द्व ग्रस्त है और जस अपनी ही गाठ को खोलना चाह रहे है।

इसी स शरद जब कि हमार जी को मथ डालत है तब क्या वह हम विराट की ओर भी उदबुद्ध करत है? स्तूपाकार महदादश पात्र शरत नही खडे करत। वह symbolic नही है।

लकिन क्या हम इस शरद की त्रुटि कहकर छुट्टी पाएँ? मानव और मानव के प्रम की उनक सम्बन्धो की समस्या को शरद ने इतना अपना लिया कि व्यक्ति और विराट का प्रश्न पीछे रह गया, तो क्यों इसके लिए हम सामाजिक व्यक्ति की हैसियत से उनके और अधिक कृतज्ञ नही हो सकत?

[चार]

एक मित्र क साथ की बातचीत भूलती नही है। भूल जाती अगर मैं मित्र को मामूली मान सकता। विचार और परख क आदमी थ और तबीयत के साफ। कलकत्त रहत थे। मैं साधारणतया शरच्च द्र के बारे म जिज्ञासा स भरा रहता था। जानकारी जो मिले उसी का सग्रह कर लना चाहता था।

मैंन कहा— सुना ह शरद बाबू यही कलकत्ते म किसी जगह हैं। आप जानते है?'

बोले— शरद नावलिस्ट न? हाँ रहत है। जगह बिलकुल ठीक ता नही जानता। कुछ काम है?"

मैंने कहा— काम तो क्या या ही पूछा। कभी मिलन को जी हो आता

है।

बोले— जिसे मिलना चाहते हो उसे जानते भी हो ? मैं तो मिलने की सलाह न दूंगा।

पूछा— क्या ?'

बोले— आदमी कुछ—यों ही है। शरीफ का आदमी नहीं है। संस्कारिता उसमें नहीं दीखता।

पूछा— आप उनसे मिले हैं ?

बोले— मिला नहीं, देखा है। या इतिहास काफी कुछ जानता हूँ। असल में इस व्यक्ति को सभ्य सोसायटी मिली भी तो नहीं। और अब मिली तब संस्कार पक चुके होंगे।

सुनकर मैं असमंजस में पड़ गया। जानना चाहा कि ऐसी अभद्रता के सूचक लक्षण उन्होंने क्या-क्या पाए हैं। और फिर दीखने वाली भद्रता क्या संदिग्ध वस्तु भी नहीं हो सकती। कपड़े रंग के न हों तो क्या मन साफ नहीं रह सकता।

मित्र ने बात सुनी अनसुनी कर दी और बताने लगे कि अजी, वह शख्स शराब इतनी पीता है कि तौबह !

मैंने पूछा— तो ? इनी गिनों को छोड़कर यूरोप अमेरिका में सब शराब पीते हैं, क्या यह कहना होगा कि सब अशिष्ट हैं। शराब इतनी बुरी चीज है ?'

बोले— और भी ऐब हैं। सभी ऐब हैं।'

मैंने कहा— सब तो कहां से होंगे। क्योंकि सब ऐब शरद में ही हो जावेंगे तो बाकी हम आपके लिए क्या बचेगा ? पर सुनते हैं उन्होंने शादी नहीं की।"

मित्र सुनकर हँस दिए। वह हँसी जी की नहीं, व्यंग्य थी। बोले— शादी व धन जो है।'

मुझे यह बात रुची नहीं। चाहा कि बात व्यंग्य से नहीं, सफाई से हो।

बोले— साफ मुझसे न कहलाओ। फिर एक किस्सा नहीं है। कहूं भी तो क्या क्या ? और तुम न सुनो तो अच्छा।'

कुछ रुककर मैंने पूछा—'आपने उनकी रचनाएं पढ़ी हैं।'

बोले—'कुछ पढ़ा है। लिखता अच्छा है। लेकिन उससे क्या ?'

मैंने कहा— मुझे नहीं मालूम होता कि लिखकर दूसरे के मन को प्रभावित करना इतना आसान काम है और वह काम बुरे मन और भली तबीयत से हो

सकता है।'

बोले— अभी दुनिया और देखो। लिखना लिखना है, इन्सानियत और चीज़ है।"

मैं उन मित्र की शरद के प्रति ऐसी अप्रिय भावनाओं का भेद अब भी नहीं जानता हूं। शरद से उनका वैर नहीं। फिर उन भावनाओं में ऐसी हीनता, ऐसी परुषता क्या थी? प्रतीत होता है कि ऐसे मामले में स्व-रति ही पर-वैर जितना काम दे जाती है। वह मित्र अपने सम्बन्ध में इतने आश्वस्त थे कि जैसे आत्म-निरीक्षण और आत्म-ग्लानि की उन्हें आवश्यकता ही न हो। इससे जिस आसानी से अपने को सही मानते थे, उसी आसानी से दूसरे को गलत मान सकते थे।

उन्होंने जानना चाहा कि आखिर शरद को जानने की मैं क्या इतनी उत्कण्ठा रखता हूं। कुछ दिलचस्प कहानियां लिख दी हैं, इसीलिए?

मैंने कहा— हां।

बोले— कहानी तो मनगढ़न्त कल्पना होती है। जो अच्छी कहानी लिखता है वह अच्छा झूठ बोलता है, यही तो मतलब हुआ।

मैंने कहा— 'यह भी सही। लेकिन क्या इतनी तसल्ली कम है कि बुरा झूठ नहीं बोलता? और जो अच्छा है, वह सच ही होता है। झूठ भी कभी अच्छा हुआ है?'

बोले— चलो तर्क छोड़ो। लेकिन उस शख्स से आखिर चाहते क्या हो?"

कहा—'प्रणाम निवेदन करना चाहता हूं। मैं उनका कृतज्ञ हूं।'

वह मेरी इस भावना को नहीं समझ सके। मैं भी क्या समझा सकता था। निश्चय जाना यह अन्त में भावनाओं का ही प्रश्न है। जाकी रही भावना जैसी।' क्योंकि इसके बाद उन्होंने शरद बाबू के सम्बन्ध में जाने क्या क्या बातें न सुनाई। वे यहां लिखी नहीं जा सकतीं। उन्हें ज्यों का-त्यों माना जाय तो शरद इतने काले बनेंगे जितना कोयला। मैं सब सुनता रहा।

बोले— अब भी उसके लिए तुम्हारा आदर कायम है?

मैंने कहा—'सच कहूं तो विस्मय कुछ बढ़ गया है। और आदर भी बढ़ गया है। जो शरद इतना मैला है और फिर भी अपनी रचनाओं से इतनी सुनहरी और विविध रंग की आभा बिखेर सकता है तो इससे मेरे मन को यही मालूम होता है कि वह और भी जानने योग्य है और भी गहन है।'

बोले— तुम मेरा विश्वास नहो करते ?"

मैंने कहा—"इसीलिए नहीं करता कि मैं शरद को दवता नहीं समझना चाहता। उनकी रचनाओ म जा है उस रचनाकार का सच मानू और आपकी बाता म जो शरद दीखता है, उस भी विश्वसनीय मान लू तो शरद मानवातर लाकोत्तर हो जाते है एकदम विस्मय पुरुष।'

नही जानता कि भिन्न लोगो की भिन्न यहाँ तक कि प्रतिकूल धारणाओ का मेल कैसे बठाया जाव। सच यह है कि सत्य अनन्त है। और झूठ बस अहकार ही है जिसका शरद म इतना अत्यन्ताभाव है कि मन होता है कि कहूँ कि शरद धार्मिक पुरुष थे। उनकी रचनाएँ लगभग धमग्रन्थ ही हैं।

अचरज है कि जिस रचना की सहायता से मेरे मन म प्रीति का आवेग भर उठता है उसी रचना के कारण दूसरे व्यक्ति को शरद दानव किस भाँति प्रतीत हो आते हैं। देखता हू कि मेरी कृतज्ञता और श्रद्धा उनके प्रति जितनी अडिग है, उस ओर का अश्रद्धा भी उतनी ही कट्टर है। पर वह जो हो और व्यक्तियो की मतियाँ जितनी भिन्न हो यह पक्का निश्चय है कि जो शक्ति बिना किसी अयुध के कागज पर छप शब्दो द्वारा किसी एक के भी जी को हिलाकर उनमे से उच्छ्वास और आसू निकलवा सकती है वह शक्ति दानवी नही है। नही दानवी वह कभी नही है।

[पाच]

दशनशास्त्र के एक बगाली प्रोफेसर थे, जो अब चौथपन म हैं और अवकाश प्राप्त हैं मिलने पर अक्सर कला और धम की चर्चा चल निकला करती है। कहने लगे— कला और धमा ये दो हैं। एक दूसरे पर नही टिक सकते। कला को व्यवसाय बनाना गलत है। लकिन जीना तो कलाकार को भी पडता है न। जीने म पसा लगता है। और आज दुनिया की यह हालत है कि पैसा पाने के लिए छीन झपट की वत्ति चाहिए। राजनीति का बोलबाला है और पसा मुद्रा नीति के तावे है। इससे कला का व्यभिचार होता है। व्यभिचार व्यभिचार हो पर उससे टके सीधे होते हैं। इससे टके की दुनिया म व्यभिचार आट क्यो न हो जाय। इससे आज दिन आर्टिस्ट ने आट की जरूरत नहीं है आर्टिजन वाला आट चाहिए। इससे आट का सत्यानाश हो जायगा, माना, पर रोटी तो मिलेगी।

बाबा (उनको हम यही कहते हैं) बोलते कम है बोल पडते हैं तो रुकना सहल नही रहता। और इस आट और व्यवसाय के विरोध के बारे म जस उनके भीतर कहीं घाव है। ठेस लगी नही कि फिर व्यथा ही वहा से निकल पडती है।

मैंने कहा—' सुनिए। आप नरद को जानते हैं ?"

बोल— बगाली हूँ, शरद को न जानूगा ? हा तुम क्या समझते हो। शरद पसे को मिटटी भी नही, मैल समझता था। कुरता धाती से आगे उसन कपडा नहा जाना। धन आया पर मन पर क्या उसकी छाया भी आ सकी।"

इसके बाद स्वदश और विदेश और आदिकाल और आधुनिक काल के कलाविदा की चर्चा उन्होंने छेडी

मैंन कहा—' आप निकट से उन्ह जानते है न ?"

बाले—' हमारा एक कलाम फेलो नरद का बहुत घनिष्ट मित्र रहा है।"

मैंने कहा— मित्र ? तो शरद मित्रहीन नही थ जसे कि वह पत्नीहीन थे।'

बोले— ओ मित्र से वह बात नही। He was a solitary soul that way (उस दृष्टि से व एकाकी थे)।'

मैंने पूछा—"निकट के रिश्तेदार हैं ? '

बोले— रिश्तदार हांगे। शायद ह। पर मेरा विश्वास है नरद क अपने चक्कर म कोई नही है। या कहा किसी क चक्कर म वह स्वय नही हैं।'

मैंने पूछा— 'शादी—?

मालूम नही। वदनियाँ अनक हैं।'

' पत्नी—?"

बस वह एक था अलग, एकाकी।'

वह व्यक्ति जिसन भोग्य रूप म नारी को कभी नही पाया—प्रतिभा पाई ६२ वष की वय पाई स्नेह से लबालब भरी आत्मा पाई, फिर भी नारी को जिसने भोग म नहा पाया—ठीक उसी व्यक्ति ने ही हृदय को जितना स्पन्दन-शील और सम्पूर्ण भाव से चित्रित किया वसा क्या कोई गहस्थी कर सका ? नहीं कर सका। इसी से मैं इस विरागी फिर भी ससारी प्राणी के प्रति उत्कण्ठित जिज्ञासा से भर भर आया।

देवदास पावती की अलख जगाए रहा। लेकिन जब विवाहित पावती रात्रि म एकान्त म सम्पूर्ण भाव स उसक प्रति अपना आत्मापण निवेदन कर उठी, तब

सकना, वह उन्हें हार्दिक दिखलाना चाहता है। वह हार्दिकता उतनी सहज उनके लिए नहीं है। कारण वे पारम्परी सन्त प्रकृति की नहीं हैं। ऐसी हालत में खिलखिलाहट में भरी हँसी ही आवरण का एकमात्र उपाय रह जाता है। लगता है, इस हँसी में वह सुन रही हैं, पर वहीं उनको ढक रही होती है।

—महादेवी जी से आप सर्वप्रथम कब मिले थे?

—ठीक तिथि याद नहीं है लेकिन पहली बार जब मिलना हुआ उसको अब से बीस वर्ष हो गए होंगे।

—परस्पर में क्या-क्या बातें हुईं? यदि कुछ याद हो तो बताने की कृपा करें।

—बातें पूरी तो याद नहीं हैं। वे इलाहाबाद शहर में तब किसी कन्याशाला में थीं उनकी कविता ने नया-नया लोगों का ध्यान खींचा था। मुझे याद है कि पाठशाला के बन्द दरवाजे पर मुझे कुछ देर रुकना पड़ा था। फिर कुछ देर अन्दर प्रतीक्षा में बैठना पड़ा। मालूम हुआ कि खबर दी गई है नहा रही हैं अभी आ रही हैं। वह अभी मुझे कुछ समय अभी नहीं मालूम हुआ। काफी देर में वह आईं। जान पड़ता है वह देर मुझे रुचिकर न हुई थी। और आते ही हँसी की झल्लाहट मैंने उन पर उतारी। कहने की आवश्यकता नहीं कि वह भी झल्लाहट के रूप में नहीं उतरी। मैंने कहा था कि देखिए, पहले आपने यह गलती की कि कविता लिखी, फिर यह कि छपने दी जिस पर सबसे बड़ी गलती यह कि वह कविता अच्छी लिखी। किसी ने आपसे यह नहीं कहा था कि आप एक-पर एक गलतियाँ करती चली जायँ। यह आपका अपना काम था। कोई भी आपके माथे इसके दोष को बैठा नहीं सकता। अब अपने कमफल से आप बच नहीं सकतीं। यानी अपनी कविता से आपने ध्यान खींचा है तो आप अपने को उस ध्यान से बचाने की अपात्र हो गईं। बात इसी ढंग से शुरू होकर न जाने कहाँ-कहाँ घूमती फिरती रही। जान पड़ता है उनका असमंजस और मेरा क्षोभ अधिक देर हमारे बीच ठहरा नहीं। यही साहित्य-वाहित्य की कुछ गप शप होती रही होगी।

जी आप पूछना चाहती हैं कि वे हँसी थीं और कितनी बार हँसी थीं। नहीं, उस समय एक बार भी उनके हँसने का स्मरण नहीं है। तब वे गुरुजी थीं भी तो नहीं। शायद विद्यार्थिनी थीं और एम० ए० आरम्भ नहीं तो बी० ए० अन्तिम की परीक्षा दे रही थीं।

—आप अभी हाल में भी महादेवी जी से मिले होंगे तब के और अब के उनके व्यक्तित्व में क्या अंतर पड़ा है ?

—हाँ, मिलता हूँ और मिलता ही रहता हूँ। अन्तर वही ठीक बीस वर्ष जितना पड़ा है। तब सलज्जा थी, अब बातचीत में दूसरे को लज्जित करती हैं। जीवन में तब प्रवेश कर रही थीं और कहाँ उनका स्थान है और होगा, इसके विषय में हर धारणा से रीति और हर आशा से भरी थी। अब सब घटित घटना है। न धारणा के लिए और न आशा ही के लिए स्थान है। इसलिए व्यवहार में अबोधता नहीं रह गई है। सिद्ध दक्षता आ गई है। इत्यादि इत्यादि कितना मुझमें कहना होगा खिलता वय में आरम्भ होकर उसके अनन्तर बीस वर्ष का अन्तर अपने आप में समझ लेने की बात है।

—महादेवी जी की कविता का धरातल क्या है ?

—इसलिए मैं अकवि हूँ उनकी कविता का धरातल शायद बौद्धिक है या वह बौद्धिक सहानुभूति है। शायद वह अनुभूति से किंचित भिन्न वस्तु है।

—महादेवी जी को कविता की प्रेरणा कहाँ से प्राप्त हुई ?

—यह प्रश्न महादेवी से करने योग्य है।

—मेरे पूछने का तात्पर्य यह है कि महादेवी जी की कविता की प्रेरणा उनके जीवन की बाह्य परिस्थितियों के कारण है अथवा उनकी प्रेरणा भीतरी साधना में निहित है ?

—बाहर की परिस्थिति और भीतर की साधना मेरे लिए दो अलग निरपेक्ष तत्व नहीं हैं। भीतर-बाहर में क्रिया प्रतिक्रिया चलती ही रहती है। इस तरह मैं उनकी या किसी की कृतित्व प्रेरणा को किसी खास खाने में बिठाकर नहीं देख सकता।

—महादेवी जी गृहिणी या माता होतीं तो क्या उनकी कविता का रूप यही होता ?

—नहीं यह नहीं होता तब वह कविता न इतनी सूक्ष्म होती न जटिल, न गूढ़। तब वह अधिक प्रकृत होती।

—महादेवी जी में शान्ति जड़ता, मूक प्रणयानुभूति अधिक है। वेदना है किन्तु उसमें वे घुलती नहीं हैं, वरन वे सुख का अनुभव करती हैं ऐसा क्यों है ?

—आपके प्रश्न में शब्द बड़े आ गए। उनमें से मुझे राह बूझ नहीं मिलती।

वेदना वाली बात समझ म आती है। वेदना म घुलना या न घुलना मेरे विचार म यह आदमी के अपन निणय की बात नही है। यदि कोई नही घुलता तो कहना यह होगा कि वेदना की मात्रा पर्याप्त से कम है। महादेवी जी वेदना म घुल गई हैं एसा मैं भी नही मान पाता। इसी से मुझे मानना होता है कि वेदना वह समग्र नही किंचित् बौद्धिक है। आपने पहले प्रश्न के उत्तर म जो मैंने कहा था कि मेरी दृष्टि म उनका काव्य का धरातल बौद्धिक है या बौद्धिक सहानुभूति है उसका यही मतलब था। बुद्धि जानती है इस कारण घुलने नही देती। यानी वह भक्ति से भिन्न है। भक्ति म विह्वलता है महादेवी के का य म इतनी अधिक कविता है कि उसी के कारण हम जान लेते हैं कि विह्वलता नही है। विह्वलता म भाषा के किनारे टूटे फूटे बिना नही रह सकते जबकि महादेवी जी की कविता भाषा की सम्पदा की अनूठी प्रदर्शिनी है। इसम मैं वेदना का कुछ कमी हो को कारण देखता हूँ। वेदना वह जो बुद्धि को भिगो दे। बुद्धि अलग स जिसे थामे रह सकती है वह पीडा शायद बुद्धिगत है प्राणगत नही है जब कि वेदना का मूल प्राण म है।

— She is pathetic not tragic' क्या आप महादेवी जी के सम्बन्ध मे इस धारणा से सहमत हैं?

—इन दो शब्दों म Contrast तीव्र है। Tragic गुण तो महादेवी के काव्य मे मुझे कम ही मिलता है, पर Pathetic उसे कह देकर भी मुझे छुट्टी नही मिलती। Pathetic विशेषण के नीचे मानो भाव की बहुत ही कच्ची धरती माननी होगी। उस काव्य म भाव की उतनी कच्ची भूमिका नही है उसस अधिक तल्लीनता है। पर जसा कि मैंने माना है, कविता म उनकी निजता डूबती नही है, बुद्धि की ओर से वह जसे अलग थमी रहती है। इसी से ट्रजिक भाव उत्पन्न होने स वहाँ कुछ बच ही जाता है।

—महादेवी जी और मीरा की पीडा मे क्या अन्तर है?

—उत्तर मुझे अनुमान स ही देना होगा। अनुमान खतरनाक भी होता है। महादेवी जी मेरे लिए समकालीन हैं मीरा ऐतिहासिक। पर जहाँ तक सम्भव है मैं व्यक्तित्व पर से अनुमान नही लगाता। अनुमान काव्य से लगता है। महादेवी जी की पीडा चाह कर अपनाई हुई है मीरा की अनिवार्य। मीरा अपने मे विवश और अपनी पीडा से छुटकारा पाने के लिए विकल हैं। व प्यासी हैं,

इसलिए उनमें पानी की पुकार है। महादेवी प्यास को ही चाहती मालूम होती हैं इससे अनुमान होता है कि प्यास को उन्होंने जाना नहीं है। घायल घाव नहीं चाहता। जो अभी घाव ही चाहता है मालूम होता है उसकी गति घायल की है नहीं। महादेवी जी विरह और वियोग में रस अधिक ढूढ़ती हैं। इसका अर्थ है, विकलता उतनी अनुभव नहीं करतीं। मीरा तो अपने गिरिधर गोपाल के पीछे सारी लाज लुटा बैठी हैं। महादेवी के लिए सामाजिक सम्भ्रान्तता उतनी नगण्य वस्तु नहीं है। कोई गिरिधारी उनके लिए इतना मूर्त्त और वास्तव नहीं बन सकता जो उन्हें उधर से असावधान कर दे। यानी अपने इष्ट को वह विचार रूप में ही ग्रहण कर सकती हैं प्रत्यक्ष रूप में नहीं चाह सकतीं। प्रत्यक्ष होकर उस शरीर तक मिलने की दुःसम्भावना हो आती है। महिला-जनोचित उनके स्वभाव के लिए वह सर्वथा असह्य है। इस तरह मीरा और महादेवी की पीड़ा में मैं किसी प्रकार की समकक्षता नहीं देख पाता हूँ।

—महादेवी के काव्य में प्रणयानुभूति के अतिरिक्त सत्य, सुन्दर कहां तक साध्य और साधन हैं?

—मैं प्रश्न को ठीक तरह हृदयङ्गम नहीं कर पाया। मेरे लिए तो प्रत्येक सम्बन्ध सघन होकर प्रणय बन जाता है। मूर्त्त के लिए ही नहीं अमूर्त्त के प्रति भी प्रणय होता है। प्रणय अपनी शक्ति से मूर्त्त को अमूर्त्त और अमूर्त्त को मूर्त्त बना सकता है। अर्थात् प्रणयानुभूति में अतिरिक्त काव्य में कुछ और होने का अवकाश ही कहां है? पर हां महादेवी के काव्य में वैसा अवकाश रहा है क्योंकि बुद्धि वहां डूबी नहीं है भीगी नहीं है, किंचित स्वस्थ और सुरक्षित रह गई है। मीरा से पूछने चलो तो गिरिधारी से अलग कोई सत्य और सुन्दर उसके लिए बचता ही नहीं कि जिसके प्रति प्रणयानुभूति एवं प्रणय निवेदन हो। उसके अतिरिक्त सत्य और सुन्दर का होने के लिए अधिष्ठान ही कहां है? यदि है तो मानूंगा कि काव्य की त्रुटि है। इसी अर्थ में मैंने कहा कि आप के प्रश्न को मैं पूरी तरह हृदयंगम नहीं कर पाया।

—महादेवी जी काव्य को किन अर्थों में लेती हैं 'कला के लिए कला का सिद्धान्त' उनके काव्य पर कहां तक लागू होता है?

—प्रश्न के पहले भाग का उत्तर महादेवी जी से लीजिए।

'कला-कला के लिए'—यह सूत्र महादेवी जी के काव्य से कितनी तृप्ति पाता

है यह भी उस सूत्र के सूत्रधार से मालूम करने की बात है। मैं समझता हूं कि मान जान वाले लौकिक उद्देश्य म स किसी क साथ उस कविता को कठिनाइ ■ ही जडित देखा जा सकेगा। निरुद्देश्य तो उसे या किसी को कैसे कहा जा सकता है। पर क्योंकि हम किसी स्थूल और स्पष्ट लौकिक हेतु से उसे नहीं जान सकते, इसलिए उस काव्य-कला को कला के लिए ही स्पष्ट माना जाय तो कुछ अयथा न होगा।

—पद्य में वे अपने-आप में सिमटी हैं किन्तु गद्य उनकी सहानुभूति को कहां तक बिखेरता है ?

—आपकी बात म कुछ एसा आशय तो है जिसमे मैं सहमत हो सकता हू। पद्य म जैसे उन्होंने अपन को टटोला है, और अन्त में अपन का निवन्ति किया है उसक प्रति जो उनक अपने आत्म स भिन्न नहीं है। इस तरह घूम फिरकर उनका पद्य अधिकांश उन तक ही लौट आता है। उसम जगत नहीं है, मेरे खयाल स जगदाधार भी नहीं है। इसलिए वह काव्य कुछ इतना वायव्य और सूक्ष्म है कि अनुभूति तक म मुश्किल से आता है। यह सुविधा गद्य म तो है नहीं। गद्य इतना पर निरपेक्ष हो सकता ही नहीं है। इसलिए उनके गद्य म सहज भाव ■ हम, तुम की चर्चा हुई है। उसम मानव पात्र हैं और वास्तव परिस्थितियां हैं। केवल आत्म-ही आत्म वहां नहीं है।

सहानुभूति की गति आवश्यक रूप स अपने से इतर के प्रति है। महादेवी जी के पद्य म वह इतर लगभग लुप्त है। इमस यह कहना कुछ हद तक ठीक ही है कि गद्य म इनकी सहानुभूति अपेक्षाकृत अधिक खिली है।

—महादेवी के रेखा चित्रों के सम्बन्ध में आपकी क्या धारणा है ?

—रेखा चित्र स मतलब शायद आपका उन शब्द चित्रो स है जो उनकी पुस्तक 'अतीत के चल चित्र' और स्मृति की रेखाएं म मिलते हैं। मेरे खयाल म वे शब्द चित्र सुन्दर बन पडे है। और हम म सहानुभूति-परक स्पन्दन जगाते हैं। यह कि व महिम्न मान जाने वाले नायक ना[illegible] [illegible] है एक अच्छा ही बात है। [illegible] [illegible]या है। असाधारण किंचित [illegible] है। समय है [illegible] को पहचानें। [illegible] म [illegible] मे साधारणीकर[illegible] [illegible] अथ

इस अर्थ में 'साधारणीकरण' मुझे प्रिय और मान्य होगा कि प्रत्यक्ष निजता को हम इस रूप में लें और दें कि वह सार्वजनिक से विषम न रह जाय। महादेवी जी को इसके लिए यानी रेखा चित्रों के लिए मैं बधाई दे सकता हूँ। इसका मतलब यह कि मैं उनके प्रति उस सृष्टि के लिए कृतज्ञ [redacted]।

—महादेवी जी की चित्रकला में विरहिणी नारियों के ही धुंधले चित्र मिलते हैं, ऐसा उनसे जान में हुआ है या अनजान में?

—जान अनजान दोनों में।

—महादेवी जी की चित्रकला के सम्बन्ध में आपके क्या विचार हैं?

—महादेवी की रचनाओं में मैंने उनके बनाए चित्र देखे थे। पर उन्होंने जो अपने कमरे की भीतों पर चित्र आंके हुए थे उनका मुझ पर अधिक प्रभाव पड़ा। पहली बार वहां जाने पर मैं उन भीत चित्रों को मुग्ध-सा देखता रह गया। काव्य पुस्तकों में अंकित, या स्वतन्त्र चित्र भावों को मूर्त करने के प्रयत्न में बने हैं। जीवन प्रसंग से वे इतने जुड़े नहीं हैं। इससे वे पूरी तरह अनुभूति की पकड़ में नहीं बैठते। भावात्मकता भी एक प्रकार का रस है। पर उसकी बात यहां नहीं करूंगा। हम सब में रहते हैं इससे जब हमारी बुद्धि कहीं अकृत-कार्य होती है तो किंचित् अच्छा भी लगता है। वैसी दुर्बोधता उन चित्रों में है पर मुझ-जैसे को कुछ देने में नहीं जान पड़े। कमरे की भीतों पर जो चित्र थे वे उस प्रकार भाव-कैवल्य में से उद्भूत न थे। उन्हें घटनात्मक भी कहा जा सकता है। जीवन प्रसंग से उनका सीधा सम्बन्ध था। शायद इसीलिए रेखांकन आदि की अपनी सम्भव त्रुटियां के बावजूद वे मुझे विभोर कर सके। मानना होगा कि महादेवी जी की चित्रकला अधिक में अधिक चिन्तन की ओर उन्मुख है। जीवन तो मांसलता मांगता है। उसके बिना वह चलता नहीं। पर चिन्तन के लिए शरीर ही बाधा है। इसलिए अशरीरी चित्रण चिन्तनाभिमुखता के लिए अधिक अनुकूल पड़ सकता है। इसको फिर चाहे उसकी विशेषता कहा जाय चाहे मर्यादा।

—क्या आपके मन्तव्य से इस वस्तु स्थिति पर भी प्रकाश पड़ता है कि उनके चित्रों में विरहिणी नारी का चित्रण विशेष है?

—हाँ अपने निज के भाव पर आश्रित रहने के कारण और बाहर के घटना-सन्दर्भ से विमुख होने के कारण उनके चित्रों में एकाकिनी नारी का स्थान पा जाना सहज-सम्भव ही है। उस एकाकिनी को निश्चय ही अनेक भावों और रूपों में आना

होगा। परम्परा के बीच उसकी एकान्तता एवं अभावात्मकता उस तरह भिन नहीं सकती। इसलिए उन चित्रों में उस प्रकार की सामाजिक परम्परता का अभाव स्वाभाविक मानना चाहिए।

—महादेवी के काव्य पर बुद्ध रवीन्द्र, अरविन्द का प्रभाव कहाँ तक है?

—उस 'तक' के अनुपात का मुझे कुछ पता नहीं है। प्रश्न में आए तीनों व्यक्ति रहस्यवादी या आध्यात्मिक माने जाते हैं। आध्यात्मिक पर प्रभाव को उस रूप में ले सकना ही नहीं है। उसे नितान्त मौलिक होना होता है। मौलिक से मनतव्य हर प्रभाव उसकी आत्मता में घुलकर ही उसमें उद्भूत हो पाता है। इस तरह वह सकते हैं कि परतत्व को स्वरूप भाव से ही वह ले पाता है। महादेवी जी के सम्बन्ध में अनुपात का यद्यपि मुझे पता नहीं है तो भी यह इनकार करते नहीं बनता कि रवीन्द्र, बुद्ध आदि का उन पर प्रभाव है। प्रभाव है यह बहुत बनता है इसी में आशय है कि वह प्रभाव कुछ अलग से भी झलक आता है। स्वरूप में वह एकरूप हो नहीं गया है। क्या मैं कहूँ कि अपने को जो पूरी तरह स्वीकार करने का आभास उनकी रचनाओं में नहीं है, वह बहुत-कुछ पर को अपनाए रहने के कारण भी है।

—महादेवी और जैनेन्द्र के साहित्य में किसकी कृतियाँ अधिक स्थायी रहेंगी?

—जैनेन्द्र की तो चिर चिरान्त स्थायी रहने वाली हैं। उसका अभिमान इससे कम मानने को क्या तैयार हो। महादेवी जी की रचनाओं की जन्म-पत्री को भृगु-संहिता से मिलाकर देख लेना चाहिए तब ठीक-ठीक उसकी आयु के वर्ष पल, छिन का पता लग सकेगा।

—आपके उत्तर में तो उपहास है। क्या प्रश्न को आप उपहास के ही योग्य समझते हैं?

—और नहीं तो क्या? आप ही कहिए प्रश्न में से विनोद के सिवा और क्या आशय लिया जा सकता है?

—तो क्या आप कविता को इतना अस्थायी मानते हैं कि वह कुछ क्षणों या पलों में ही सीमित है?

—नहीं, लेकिन उसकी आयु का निर्धारण कैसे हो? हम से जुड़ा हुआ सब-कुछ अहम से भी जुड़ा है। अहं तो नाशवान है। इससे आगे-पीछे हमारी रचनाओं

का भी नाश को प्राप्त होना है। काल तो अनन्त है, जिसको हम चिरस्थायित्व कहें उसकी क्या उस अनन्तता म बूद जितनी भी गिनती है ! महादेवी की कविता मम को छूती है। मम सब का एक है। उसी को आत्मा कहें। अपने शुद्ध रूप मे वही परमात्मा है। उस अवस्था म वह कालावाधित सत्य है। उसके नाश का प्रश्न ही नही। अत यत्र-तत्र मार्मिक भी हो जाने के कारण केवल सामयिक भाव से जीकर समाप्त हो जान वाली कविता वह नही है। □



महात्मा भगवानदीन

लेखन व्यक्ति के अन्तरंग की अभिव्यक्ति है। महात्मा भगवानदीन जी के सम्बन्ध में तो यह और भी बात है। क्योंकि शुद्ध आत्म प्रयोजन को छोड़कर किसी और नाते उन्होंने लिखा है ऐसा मुझे नहीं मालूम। उनके लेखन क्रम को समझने के लिए हम उनकी जीवनधारा का कुछ परिचय पाना चाहिए।

उनकी मूलवृत्ति साधक की वृत्ति है। धर्म पुस्तकों को उन्होंने विद्या के तौर पर नहीं मानो साधना के निमित्त पढ़ा। उस समय उनमें तीव्र धर्म जिज्ञासा थी। धर्माध्ययन से जीवन धर्मार्थ होम देने की ही तत्परता उनमें जागती गई। वह उनके आत्ममथन का समय था। उसका परिणाम यह हुआ कि नौकरी और परिवार को भविष्य पर छोड़ वह घर से निकल पड़े। धर्म की प्यास उनमें उत्कट थी। संयम साधना के वह व्रती थे। तीर्थों की यात्रा की जंगल पहाड़ घूमे अनेक संस्थाएँ देखी और अन्त में ऋषभ ब्रह्मचर्य आश्रम लेकर हस्तिनापुर में जम बैठे।

यह काल साहित्य रचना की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। धर्मोत्कण्ठा जागने से पूर्व देवकीनन्दन खत्री की चन्द्रकान्ता सन्तति के मुकाबले एक तिलस्मी उपन्यास उन्होंने लिखा था। जीवन में यह साधना का काल उपस्थित होने पर उन्होंने उस ग्रन्थ को जला दिया। इस समय उन्होंने दैनन्दिनी (डायरी) लिखी जिसमें आत्ममथन के अनुभव दर्ज किये। और कुछ भक्ति के पद, भजन लिखे। ब्रह्मचर्य आश्रम के बालक अक्सर उनकी बनाई प्रार्थना गाया करते थे इसके साथ धार्मिक पुस्तकों का अध्ययन करते समय, उसकी कुञ्जी और भाष्य भी आत्मलाभ की

दृष्टि से वह लिखा करते थे। स्पष्ट है कि यह सब साहित्य रचना मुद्रण में नहीं आई, क्योंकि उसका ध्यान ही नहीं था। पर जीवन में उसका लाभ भरपूर हुआ।

ब्रह्मचर्य आश्रम का काल महात्मा जी के जीवन का अत्यन्त स्मरणीय परिच्छेद है। पुस्तकों से जो स्फूर्ति प्राप्त की थी, वह यदि भावुक थी तो आश्रम जीवन उनके लिए कसौटी बन गया। यहाँ उनकी साधना में जो रूढ़िगत और सामाजिक था, वह कम होता गया और जो शुद्ध और नैतिक और आध्यात्मिक था, वह प्रबलतर होता गया। इसी समय ब्रह्मचर्य आश्रम के इतिहास में संघर्ष उपस्थित हुआ, जिसको मैं तो आज रूढ़ि और प्रगति के संघर्ष के रूप में ही देखता हूँ।

अस्तु इस काल में श्री नाथूराम प्रेमी ने उनसे जैन हितैषी में कुछ लेख प्राप्त किये। जिनमें धार्मिक श्रद्धा के साथ धार्मिक तेजस्विता भी देखी जा सकती है। आज भी वह लेख पुराने नहीं मालूम पड़ेंगे, उनमें फड़क है और सच्ची शान्ति का स्वर क्योंकि मूल में धर्मनिष्ठा है और स्थिति से तीव्र असंतोष।

इस काल उन्होंने रजिस्टरों में जो अपने अध्ययन और अनुभव के परिणाम अंकित किये या सहयोगियों के साथ जो पत्र-व्यवहार किया वह भी यदि पाया और प्रकाशित किया जा सके तो वह साहित्य की अनमोल निधि सिद्ध होगा ऐसा मेरा अनुमान है।

किन्तु जीवन तो वर्धनशील है और हस्तिनापुर के ब्रह्मचर्य-आश्रम से अलग होकर जल्दी ही उन्होंने अपने को राष्ट्रीय क्षेत्र में पाया। आन्दोलन के आत्यन्तिक प्रारम्भ, यानी सन '१८ में ही वह जेल पहुँचे। इस काल की उनकी अभिव्यक्ति राष्ट्रीय गौरव से भरी हुई है। उन्होंने भाषण दिये कविताएँ लिखीं और विविध प्रकार से अपने विचार व्यक्त किए। पहली बार जेल में दो मोटे रजिस्टर तो दोनों तरफ से भरकर लिखे ही। यह राष्ट्रीय प्रवृत्ति ठेठ सन '३४ तक उनमें प्रधान रही। इसमें जीवन कर्म से इतना भरा था कि अलग से लिखने को अवसर न था। जेल ही लिखने के लिए जगह हो सकती थी। वह समय उनका साहित्य रचना की दृष्टि से कभी खाली नहीं गया। कभी मुझे उन जेल के रजिस्टरों में झाँकने का सौभाग्य मिला है मैंने पाया है कि उनकी अधिकांश अभिव्यक्ति अध्यात्म-मुखी है और अतिशय मूल्यवान है। मुझे भय है कि बहुत करके वह आज

अप्राप्य है।

सन् २१ में अरविन्द घोष का तत्कालीन साहित्य महात्मा जी इसी दृष्टि कोण से पढ़ते और स्वीकार करते थे कि वह जन आत्मवाद और समवाद तथा मुक्तिवाद का शुद्ध समर्थन है।

इस राष्ट्रीय और राजनैतिक अध्याय के बाद उनके जीवन का समन्वय-युग आरम्भ होता है। इस काल में उन्होंने अत्यन्त रुचिकर बाल साहित्य का निर्माण किया है वह इतस्ततः पत्रों में छपता भी रहा है। यद्यपि रचनाकार का उन पर नाम नहीं रहा है। यह पठनीय है और किन्हीं उद्योगी को इन्हें पुस्तकाकार निकालने का यत्न करना चाहिए।

इनके साथ कुछ निबन्ध भी उन्होंने लिखे हैं। यथा प्रयोजन ही अधिकांश बाध्य होकर वह लिखत हैं और उनके लेखों का श्रेय उनसे अधिक 'विश्ववाणी' के सम्पादक को है जहाँ कि वह छपते रहे हैं। जन-संस्कृति वाला लेख तो जैनियों को विशेष रुचिकर हुआ है और जहाँ-तहाँ उद्धृत होता रहा है। उन निबन्धों की खूबी यह है कि भाषा एकदम सहज और बोलचाल की है भाव वह हैं जो अध्यात्मिकों के लिए गूढ़ पड़ते हैं। अत्यन्त कठिन विषय को बेहद सरलता से वे उपस्थित करते हैं। और किसी पक्ष का खण्डन न करके सत्य पक्ष को ऐसे चित्रित करते हैं मानो वह उनका सबका समुच्चय ही हो। यही अपने जैन धर्म की अनेकान्त पद्धति है।

उनके इस समूचे जीवन काल में और उसमें सृष्ट साहित्य में यहाँ से वहाँ तक एक विशेष निष्ठा की रीढ़ देखी जा सकती है। उस निष्ठा को नाम देना चाहूंगा आत्म धर्म परायणता। यह गुण उनके रचे प्रत्येक शब्द को स्पन्दन और स्थायित्व देता है। इसी से वह निस्तेज नहीं पड़ सकता।

तत्त्वार्थ सूत्र उन्होंने अपने जीवन के पहले उत्थान में पढ़ा। तब से मानो वह उनके समूचे आत्म दर्शन का मूलाधार ही बन गया है। उन्होंने उसे अपने ही रूप से मनन किया और मन में बैठाया है। अपने आचरण को भी उस पर ही गढ़ने की चेष्टा की है। हम उसे मोक्ष शास्त्र कहते हैं। महात्मा जी उसे अपने शब्दों में स्वातन्त्र्य दर्शन सार कहते हैं। उक्त ग्रन्थ का भाष्य उन्होंने शायद ऋषभ ब्रह्मचर्य-आश्रम में रहते ही आरम्भ किया था। लेकिन वह बात अब भी उनके मन में उपस्थित है और भला दिन होगा जब उस महान ग्रन्थ का भाष्य

महा मा जी सबके लाभ के लिए लिखकर प्रकाशित होने द सकेंगे।

ऊपर की पक्तियाँ एक जैन मासिक पत्र के लेखक से विशेषांक के लिए कोई बारह वर्ष पूर्व लिखाई गई थी। लेकिन भगवानदीन जी के साथ उनसे न्याय नही होता। जन परम्परा म से वह हम प्राप्त हुए यह सही है लेकिन जैन के नाते उन्हे समझना न पर्याप्त होगा न समीचीन होगा। यह तो कहा ही जा चुका है कि लखन भी उन्हें ब धन नही है। अपने अनुभव म प्राप्त सत्य के अतिरिक्त वह कुछ नही लिखते और लिख नही सकते। कल्पना का उपयोग यदि वही उनम है भी तो वह भी इसी सत्य के हेतु से है।

उनका जीवन स्फूर्ति स और कम स भरा रहा है। आडम्बर और आकाक्षा जसी वस्तु उनम नही है। परिणाम यह कि ऊँची नीची नाना परिस्थितियो म रहकर भी वह अपनपन से दूर नही गये हैं। सदा अतिशय सहज और सरल बने रहे हैं। दुनियादारी एक क्षण भी उन पर ठहर नही सकी है उनसे एकदम अलग उतरी दिखाई दती है। मानो उन्हे ऊँच की अपेक्षा नही है इससे नीच की भी उपेक्षा नहा है। सब उन्हे समान हैं और उनका व्यवहार इतना खुला है कि देखकर अचरज होना है। जब प्रान्तीय कांग्रेस के अध्यक्ष थे तब भी स्टेशन से आश्रम तक शहर म होकर तीन मील क धो पर गन्ना की पूली उठाये लिए चले आना उनके लिए ऐसी बात न थी कि एक क्षण को भी उन्हे उसका ख्याल होता। उनकी वृत्ति म और सम्पर्क म भेद भाव नही है। जैसे जगत की माया उन्हें छूती नही है। एक विशेष प्रकार की निरीहता उनका जन्म जात गुण है उसकी साधना उन्हें नही करनी पड़ी है। किन्ही भी परिस्थितियो म अथवा वातावरण म यह वस्तु उनसे दूर नही हो सकी है। इसी का प्रतिबिम्ब उनके साहित्य म दीख मिलता है। इधर चार पाँच बरसो म उन्होने इतना लिखा है और इतने प्रकार का लिखा है कि विस्मय होता है। लिखने के प्रकार मे परिवतन लाते उन्हे तनिक भी प्रयास नही करना पडता। अभी बालकों के लिए चुटकुले और गीत लिख रहे हैं कि अगले क्षण ही उनसे गूढ तत्वज्ञान की सामग्री प्राप्त की जा सकती है। इन दिनो म उन्होने १२५ १५० के आसपास कहानियाँ लिखा दी होगी। बाल सामग्री का तो परिमाण नही। नया हिन्द' के हर अक म उनके नोट आप पायेंगे। रेडियो-विज्ञान के ऊपर एक पूरी पुस्तक तैयार है। और उस कठिन वज्ञानिक चीज का परिचय ऐसा सुलभ और सुबोध बनाकर दिया गया है कि बालक भी समझ लें।

'जवानों'/के लिए जो वह लिखा गये हैं, लिख रहे हैं और लिख सकते हैं, भारत मे उसका जोड नही मिलेगा। एक पुस्तक 'जवानो' छपी ही है जिसके एकाधिक सस्करण निकले है और वडी माँग हुई है। जिसने पढा है मुग्ध हो गया है। उसा जोड के निबन्ध अभी इतने हैं कि दो नये सकलन निकल सकते हैं। 'जवानो! राह यह है' नाम का लेख किसी जवान को बेकार और आलसी नही रहने देगा। सफलता' पर एक लेख माला है जिससे जवान समझे बिना नही रह सकता कि सफलता कहीं उससे दूर नही है उसके अन्दर है और बस उसे हाथों मे ले लेने की देर है।

किन्तु भगवानदीन जी महात्मा ठहरे। एक गाँधी जी की महात्माई थी जिसमे हिसाब न छूटता था न पैसा छूटता था। जाने कहाँ-कहाँ से करोड ही-करोड रुपया बहकर गांधी जी मे पहुचा और वहाँ से देश की प्राण वाहिनी नसो मे पहुँचा दिया गया। ऐसे धन ने जो मल है, खाद बनकर गाधी के द्वारा जीवन मे वह फल और फूल खिलाए कि देश कुछ काल के लिए मनोहर उद्यान बन गया। गाधी जी ने पाई-पाई बटोरी और उसका हिसाब रखा। भगवानदीन जी बिखराते चले जाते है जसे किसान खेत मे धान बिखराता है। उनकी लिखी सामग्री जहाँ तहा छितरी पडी है। कितनी उसमे लुप्त हो गई है पार नही। जेल मे उनका कम जीवन नही गया। और हर जेल प्रवास मे अथक होकर उन्होने लिखा। कापियो पर कापियाँ और रजिस्टर पर रजिस्टर भरते चले गए। सामग्री की दृष्टि से आसमान से लेकर धरती तक उसमे क्या कुछ न था। गद्य पद्य कहानी विचार भजन गीत, तत्त्वज्ञान, अनुसन्धान, नीतिज्ञान, दोहे श्लोक चौपाई और जाने क्या क्या। पर लिखने से आगे जसे महात्मा जी को उससे सम्बन्ध न रहा। जहा जो चीज रही, रह गई। फिर क्या उनका बना माना इससे उन्हें वास्ता नही। अब लोग उनसे कुछ लेकर जहाँ-तहाँ छपने भेज देते हैं। छप जाता है और चार पाच किताबें भी निकल गई है पर यह लोगो का काम रहा है। महात्मा जी का तो काम जसे लिख जाने पर खत्म हो गया।

कहते हैं युग अर्थ का है और हिसाब का है। होगा महात्मा जी तो अपने युग मे रहते हैं और वह मानो सतयुग है। लेखो पर पारिश्रमिक मिल निकला है और कभी कहते है अच्छी रकम भी मिल जाती है। लोग सुनते हैं कमा भी रहे हैं। विलायतो मे तो वह बडे ऊचे पाए का धन्धा है। यश मान धन सभी का अर्जन

है। पर वह होगा। महात्मा जी को उसका पता नहीं है। जैसे उस बात के पता रखने का वह अपनी तरफ से किसी को मौका ही नहीं देना चाहते। गांधी जी की तरफ से नवजीवन-कार्यालय' आपको उनकी रचनाओं के सम्बन्ध में स्वतन्त्रता नहीं लेने देगा। खुद गांधी जी ने यह व्यवस्था हो जाने दी है। विनोबा के लिए भी एक 'ग्राम-सेवा मण्डल' है। फल यह है कि वह साहित्य सुरक्षित और विधिवत प्रकाशित है। काश ! कि ऐसा कुछ महात्मा भगवानदीन जी के सम्बन्ध में भी हो सके। तब हमें लाभ होगा और शायद हम चकित रह जाना हो कि कितनी प्रचुर और विविध उनकी रचनाएँ हैं और कितनी सरल और सशक्त ! □



माता जी

अपनी माता जी के बारे में कुछ कहते मुझे झिझक होती है। पिता को तो मैंने जाना ही नहीं। चार महीने का था तभी सुनता हूँ उनका देहान्त हो गया। पिता की ओर से किन्हीं सम्बन्धी होने का मुझे पता नहीं। हालत थी नकद या जायदाद की तरफ से एकदम सिफर। इससे छुटपन से ही हमारे परिवार का बोझ माता जी के मायके वालों पर आया। लेकिन मेरे जन्म के बाद नाना और नानी अधिक काल नहीं रहे। मामा (महात्मा भगवानदीन जी) की उम्र छोटी थी और उसी अवस्था में उन्हें नौकरी पर जाना पड़ा। हम उन्हीं के आश्रय में पले।

पर महात्मा जी के मन में धर्म-श्रद्धा का बीज था। स्वाध्याय से वह अंकुरित हो रहा था। तभी ला० गेंदनलाल जी का साथ उन्हें मिला। लाला जी फतहपुर में थे और धर्म में उन्हें गाढ़ी अभिरुचि थी। आचरण को अपने विश्वास के बराबर लाने की लगन में दोनों ने घर छोड़ व्रती और ब्रह्मचारी होने की ठानी। नौकरी उस यज्ञ में स्वाहा हुई और हम भाई-बहिनों को लेकर माता जी अपने मायके के घर अतरौली आ गईं।

महात्मा जी और ला० गेन्दनलाल जी भारत भर की तीर्थ यात्रा पर निकले। माता जी साथ थीं। अर्जुनलाल जी सेठी और बा० अजितप्रसाद जी आदि भी साथ रहे। महात्मा जी ने तो कुछ विजन वन-यात्रा भी की। इस तरह घर छोड़ने के कोई एक-डेढ़ वर्ष के अनन्तर हस्तिनापुर में ब्रह्मचर्याश्रम कायम हुआ और हम बालक उसके पहले ब्रह्मचारी हुए। बालकों की समस्या ऐसे हल हुई। बालिकाओं

का भार माता जी पर आया। दो मेरी बहिनें थी दो कन्याएँ ला० मदनलाल जी की थी। घर के बड़े जब व्रती हुए तो हम बालक तो गुरुकुल म आ गए पर दोना परिवारा म के शेष व्यक्तिया को सम्भालने के लिए माता जी के सिवाय और कोई न था। मामी (महात्मा जी की पत्नी भी) उस दिन म थी। तय हुआ कि माता जी सबका लेकर बम्बई मगनबाई जी के श्राविकाश्रम चली जावें। चल-सम्पत्ति म जितना जो था राई रत्ती महात्मा जी ने हस्तिनापुर आश्रम की नीव म होम दिया।

आगे क्या हुआ और क्या हुआ यह माता जी ही जानती है। महात्मा जी भी जानते होंगे ता शायद पूरा पता नही। ब्रह्मचारी मदनलाल जी के पास तो कुछ बैंक एकाउंट बचा रह गया था, लेकिन महात्मा जी ने अपने और अपना के प्रति दया को कमजोरी समझा। अचल सम्पत्ति अतरौली म नाना की कुछ बची रह गई थी। महात्मा जी उधर से उदासीन हुए तो वह भार भी माता जी पर आया। अतरौली मामूली कस्बा है और सम्पत्ति म दो-तीन मकान ही कहिए जिनकी आय विशेष क्या हो सकती थी। आधार के लिए सिर्फ वह, पालने को खासा कुनबा और इस बार म साचने और करने धरने को अकेली मेरी एक मा।

उस समय की बाता का ठीक ब्यौरा मुझे ज्ञात नही अनुमान भर कर सकता हूँ। शायद अतरौली मे परिवार के अथ अरहर की दाल का उन्होंने व्यवसाय किया था। बहुत छुटपन की मुझे धीमी धीमी सुध है कि घर म दाल की खूब चक्कियाँ चला करती थीं। माता जी पीसती थी, मामी और दूसरे जन भी पीसते थे। शायद उस काम म खास नफा नही रहा वल्कि कुछ टोटा ही पडा क्योंकि बाहर का काम जिनके सुपुर्द था वे मर्द थे और अपने न थे वेतन के थे। उसके बाद याद पड़ता है अतरौली और अलीगढ के बीच इक्के चलाने का उन्होंने व्यवसाय किया था। खुले हुए इक्का और दाना खाते और रह रहकर हिन हिनाते हुए घोड़ों से भरे बाहर के चौक की तसवीर मेरे मन मे अब भी कभी-कभी धुंधली-सी भलक आती है। यह काम भी फला फूला ऐसा नही जान पडता। फिर तो माता जी शायद मामा जी और चारा बहिना को लेकर बम्बई ही जा पहुचीं। इससे पहले साधारण अक्षर ज्ञान ही उन्हे रहा होगा। बम्बई मे एक बेप व मीनर धर्म का अच्छा परिचय और अपनी व्यावहारिक कुशलता के कारण लोक-सग्रह और सार्वजनिक काय म अच्छी दक्षता उन्होंने प्राप्त कर ली।

माता जी

ा जी के बारे म कुछ कहते मुझे झिझक होती है। पिता को ता
ही। चार महीने का था तभी सुनते ह उनका देहान्त हो गया।
े किन्ही सम्बन्धी होने का मुझे पता नही। हालत थी नकद या
रफ से एकदम सिफर। इससे छुटपन से ही हमारे परिवार का
के मायके वालो पर आया। लेकिन मेरे जन्म के बाद नाना और
ल नही रहे। मामा (महात्मा भगवानदीन जी) की उम्र छोटी
वस्था म उन्ह नौकरी पर जाना पडा। हम उन्ही के आश्रय म

ा जी के मन म धर्म-श्रद्धा का बीज था। स्वाध्याय से वह अकुरित
ी ला० गेंदनलाल जी का साथ उन्ह मिला। लाला जी फतहपुर
म उन्ह गाढ़ी अभिरुचि थी। आचरण को अपने विश्वास के
लगन म दोनो ने घर छोड व्रती और ब्रह्मचारी होने की ठानी।
म ब्याही हुई और हम भाई बहिनो को लेकर माता जी अपने
नरौली आ गई।
और ला० गेंदनलाल जी भारत भर की तीर्थ यात्रा पर निकले।
ी, अर्जुनलाल जी सेठी और बा० अजितप्रसाद जी आदि भी साथ
ी ने तो कुछ विजन वन-यात्रा भी की। इस तरह घर छोडने के
के अनन्तर हस्तिनापुर म ब्रह्मचर्याश्रम कायम हुआ और हम
ले ब्रह्मचारी हुए। बालको की समस्या एस हल हुई। बालिकाओ

का भार माता जी पर आया। दो मेरी बहिनें थी दो कन्याएँ ला० गैंदनलाल जी की थी। घर के बड़े जब व्रती हुए तो हम बालक तो गुरुकुल म आ गए पर दाना परिवारा म के शेष व्यक्तियों का सम्भालने के लिए माता जी के सिवाय और कोई न था। मामी (महात्मा जी की पत्नी भी) उस दन म थी। तय हुआ कि माता जी सबका लेकर बम्बई मगनबाई जी के श्राविकाश्रम चली जावें। चल-सम्पत्ति म जितना जो था राद रत्ती महात्मा जी ने हस्तिनापुर आश्रम की नीव म होम दिया।

आग कम हुआ और क्या हुआ, यह माता जी ही जानती हैं। महात्मा जी भी जानते होंगे ता शायद पूरा पता नहीं। ब्रह्मचारी गैंदनलाल जी के पास तो कुछ बस एकाउन्ट बचा रह गया था लेकिन महात्मा जी न अपने और अपना के प्रति दया को कमजोरी समझा। अचल सम्पत्ति अतरौली म नाना की कुछ बची रह गई थी। महात्मा जी उधर म उदासीन हुए तो वह भार भी माता जी पर आया। अतरौली मामूली कस्बा है और सम्पत्ति म दो-तीन मकान ही कहिए, जिनकी आय विशेष क्या हो सकती थी। आधार के लिए सिर्फ वह पालन का लामा कुनबा और इस भार म सोचने और करने धरने का अकेली मेरी एक मा।

उस समय की बातों का ठीक ब्योरा मुझे ज्ञात नहीं अनुमान भर कर सकता हू। शायद अतरौली म परिवार के अर्थ अरहर की दाल का उन्होंने व्यवसाय किया था। बहुत छुटपन की मुझे धीमी धीमी सुध है कि घर म दाल की खूब चक्कियाँ चला करती थी। माता जी पीसती थीं, मामी और दूसरे जन भी पीसते थे। शायद उस काम म खास नफा नहीं रहा बल्कि कुछ टोटा ही पड़ा क्योंकि बाहर का काम जिनके सुपुर्द था व मद थे और अपने न थे वेतन क थ। उसके बाद याद पड़ता है अतरौली और अलीगढ के बीच इक्का चलाने का उन्होंने व्यवसाय किया था। जुते हुए इक्का और दाना खाते और रह रहकर हिन हिनाते हुए घोड़ों से भरे बाहर के चौक की तसवीर मेरे मन म अब भी कभी कभी धुंधली-सी मन म आती है। यह काम भी फला फूला ऐसा नहीं जान पड़ता। फिर तो माता जी शायद मामा जी और चारो बहिनो को लेकर बम्बई ही जा पहुंचा। इसमें पहले साधारण अक्षर ज्ञान ही उन्हें रहा होगा। बम्बई म एक बरस क भीतर धर्म का अच्छा परिचय और अपनी व्यावहारिक कुशलता के कारण लोक-संग्रह और सार्वजनिक काय म अच्छी दक्षता उन्होंने प्राप्त कर ली।

घम निष्ठा उसमें मूल से थी। मत्यु समय तक वह उसम अडिग और तत्पर रही। बहुत जल्दी धार्मिक जना म उनकी माग होने लगी और वह इन्दौर दिल्ली आदि स्थानो पर धार्मिक अवसरो के उपलक्ष बुलाई जाने लगी।

स्थापना के समय से ही हस्तिनापुर आश्रम को त्यागी भाई मोतीलाल जी का सहयोग मिला। उनका एक मकान दिल्ली क सतघरे म था। भाई जी का आग्रह हुआ और माताजी न उस मकान म शायद एक श्राविकाश्रम आरम्भ किया।

इससे पहले सेठ हुकमचन्द जी और कचनबाई जी के अनुरोध पर कदाचित एक वष के लिए उनक श्राविकाश्रम का सचालन माता जी पर आया था। बम्बई म मगनबाई जी क अलावा ब्रह्मचारिणी ककुबाई ललिता बहिन आदि से मत्री सम्बन्ध हो गया था। और इन्दौर मे कचनबाई जी पडिता भूरीबाई जी आदि से उनका अत्यन्त स्नेह का सम्बन्ध बन आया।

इस अरसे म दिल्ली क धमवत्सल बन्धु भगनियो क प्रेम क कारण उनका दिल्ली आना जाना होता ही रहता था। अन्त म यहा के भाई-बहिना के उत्साह और अनुरोध पर सन १८ म पहाडी पर जैन महिलाश्रम की स्थापना हुई और माता जी उसकी सचालिका हुइ।

इतना कुछ करत धरते हुए भी अतरौली के मकाना की देखभाल भी उनसे न छूटी थी। मामले मुकद्दमे भी लगे ही रहा करत थ इन्दौर श्राविकाश्रम सचालन का काम और समय ही ऐसा था। जिसम उन पर अपने व्यय का भार नही पडा। शायद रहने सहन के खच मे अतिरिक्त साठ रुपया उन्हे वहा मिलता था। शेप म तो अतरौली की सम्पत्ति का व्यवस्था के आधार पर ही उन्ह चलना था। इस तरह अपने पिता (हमारे नाना) क निजी रहने के मकान को छोडकर शेप जायदाद धीरे धीरे करके उन्ह बेच देनी पडी।

इधर सन १८ म हस्तिनापुर से मैं निकल आया था। साम्प्रदायिकता, दलगत और व्यक्तिगत स्पर्द्धा वैमनस्य जा न कराय थोडा। परिणाम यह हुआ कि सन '१७ म महात्मा जी वहाँ से अलग हो चुके थे और सन '१८ तक बडी श्रेणियो के बालक ज्यादातर वहाँ से जा चुके थे। निकल कर आया तब माता जी दिल्ली महिलाश्रम की सचालिका थीं।

सन् १८ से सन '३६ तक क उनके जीवन का मैं थोडा-बहुत साक्षी रहा हूँ। वह इतिहास एक दृष्टि से मेरे लिए विस्मयकर है तो दूसरी तरफ से वह मेरे लिए

दु ख और चि ता का कारण है। एक गहरी भीति, सकोच और उदासीनता उससे मेरे भीतर समा गई है। सन '११ म छ वष की अवस्था म उनसे छूट कर तरह वष का होकर सन '१८ म मैं उनके पास आया था और इकतीस वष की आयु तक उनके सम्पक म रहा। आखिर सन ३६ म महायात्रा के प्रयाग पर उन्ह इकला छोडकर उनसे अलग मैं यहा रह गया। तरह से तीस वष तक की आयु क सार बनने और बिगडने के हात हैं। जो मैं बना बिगडा हू उसम इन्ही वर्षों का हाथ रहा होगा।

विस्मय होता है मुझे माता जी क अदम्य उत्साह पर। उनका साहस कभी न टूटा। कमठता एक क्षण को उनक जीवन म काइ मूच्छित नही कर पाया। मैंने कभी उन्हें अपने लिए रहत नही पाया। दो धोतिया उनके पास रहती थी और सकल्प-पूवक चार धोतियो से अधिक वस्त्र उन्होने नही रखे इसक अतिरिक्त चादर और फतूही। अपने म वह व्यस्त और ग्रस्त न थी जसा अक्सर बुद्धिमानो का हाल होता है। अपने सम्पक म आने वालो म वह हिलमिल जाती और उनक सुख दु ख म एक हो जाती थी परिवार का कोइ व्यक्ति और किसी का विचार उनके स्नेह और चिन्ता से बचता न था।

आचार म वह कठोर थी। मैं सदा का शिथिलाचारी रात्रि भोजन के सम्बन्ध म असावधान लकिन उनका इकलौता बटा था तो क्या मुझे याद है शुरू म दर से लौटने पर कई दिन रात का मुझे खाना नही दिया गया था। कुल-मर्यादा और सामाजिक व्यवहार के चाल-सम्भ्रम का उन्हें पूरा चेत था। महिलाश्रम का सम्पूण भार उन पर था। अथ-सग्रह और आतरिक व्यवस्था उसक अतिरिक्त जन सग्रह भी। इस अति दुवह कम चक्र म हृत बुद्धि हो जाने मैंने उन्ह देखा है एसा याद नही पडता। पता नहीं है व्यवस्था-समिति न धन रोक लिया है मकान का कई महीनो का किराया चढ गया है आश्रम म चालीस पैंतालीस आश्रित जन हैं माता जी कल ही अमुक उत्सव या काय स लौटी हैं मकान मालिक का उन्हें नोटिस बताया गया सब ओर की निराशा उन तक आई व्यवस्था-समिति का विद्रोह और विसूत्र रूप उन पर प्रकट हुआ। अभी ठीक तरह वृद्ध शरीर की थकान भी नही उतार पाई हैं कि सब सुनकर उन्होने कहा शिवकुमार टक मे दो धोती तो रख देना बस! कुछ मठरी-मठरी बना देनी होगी रिपोट और रसीदें रख दना और क्या तू चलगी? जाने द मैं अकेली ही चली जाऊँगी। सवर जाना

होगा। ठीक कर दे बेटा!" देखा है कि इस तरह सदा ही वह निश्चल पनी हैं इस फले विश्व के विश्वास के बल पर और अपना भरोसा उन्होंने नहीं खोया है।

उनके प्रति विस्मय और श्रद्धा बढ़ती ही गई है तो दूसरी ओर गहरा अवसाद भी मेरे मन में बैठ गया है। जगत के प्रति घोर उपेक्षा का मा जो भाव भीतर समा गया है मुझे हमेशा डसता रहता है। माता जी जन समाज की सदस्या थीं। और सत्य की साक्षी से जानता हूं कि जीवन के अन्त के पच्चीस वर्ष उनके उस समाज की सेवा और चिन्ता में बीते। इस लगन में उन्होंने अपने को दया या क्षमा नहीं दी। लेकिन उनका जो पुरस्कार मिला मेरी आखों के सामने है। मन्दिर में, घर में, खुली सड़क पर उनका अपमान हुआ। वह मरीं तो समाज की अपदृष्टि उन पर थी। श्मशान-यात्रा पर जन नहीं के बराबर थे। इस पर कभी तो घोर नास्तिकता मेरे मन में छा जाती है। फिर सोचता हूं कि शायद सेवा धर्म की यही परीक्षा है। जो हो एक गहरा शोक सदा ही मन को डस रहता है जो जन समाज से मुझे कुछ भयभीत और उसकी सेवा से कुछ दूर बनाए रखता है। जीवन में इस गम्भीर अकृतार्थता को लेकर मुझे जीना पड़ रहा है। माता जी पर सोचता हूँ तो जान पड़ता है कि वह एक नारी थीं जिनको प्रश्रय नहीं मिला बल्कि जिनसे प्रश्रय मांगा गया। लता बनकर दूसरे के सहारे उठने और हरे भरे होने की सुविधा नहीं आई। वृक्ष की भांति अपनी निजता के बल पर उन्हें इस तरह उठना और फैलना पड़ा कि अनेकों को उनके तले छांह और रक्षा मिली और बाहर का आतप, वर्षा और शीत को अपने ऊपर ही उन्होंने सह लिया। वह जीवन से जूझती रहीं, और इकली बनकर नहीं, स्वयं में एक संस्था बनकर। अपने डैनों के नीचे अनेकों को समेटे इस अपार शून्यता में मानो हठपूर्वक वह ऊंचाई की ओर ही उड़ती गई। समय आया तो शरीर गिर गया लेकिन प्राण तब भी उसमें से ऊपर ही की ओर उठे।

मृत्यु शय्या पर थीं। गिनती के दिन ही अब उन्हें जीना था। मैंने कहा "पीने को अंग्रेजी दवा ले लो।" लेकिन जो नहीं हो सकता था, नहीं हुआ। रात में कै होती थी, प्यास लगती थी। मैं कहता था। "क्या है पानी पी लो न?" कहने से कै के बाद कुल्ला तो उन्होंने किया, लेकिन कुछ भी हो गले के नीचे एक घूंट पानी उतारने के लिए मैं उन्हें राजी न कर सका। अपने नेम को रखकर जिंदगी को चुनौती दिए जाने और उससे जूझते रहने की बात सुनता था, समझता भी

मुझमे उन्हे दुख ही मिला। आज भी अपनी तरफ देखता हूँ तो नही लगता कि उनकी आत्मा को मुझमे सुख पहुँचा होगा। उनकी याद का मैंने मिट जाने दिया है और उसको जगाने और कायम रखने का कोई काम मुझ से न हागा। उनका महिलाश्रम था। क्या महिलाश्रम जसी कोई चीज उनकी याद म नही बननी चाहिए, नही बन सकती ? जरूर बननी चाहिए और जरूर बन सकती है लेकिन मुझम कभी इस बारे म मुह खोलन तक का साहस नही होता। अपनी अपात्रता को देखकर यह तक याद दिलान म मैं चूकता हू कि वह माता मेरी थी। समाज जान शेष जन जानें जैन लोग जानें। उनके नाते मेरे पास तो प्रायश्चित्त ही शेष बचता है कि जीते जी उन्हे दुख तो देता रहा, मरने क बाद ऐसा तो बनू कि तनिक उन्हें सुख हो। पर हाय प्राणी कितना अवश है और अपने ही कर्मों के बन्ध से कितना जकडित है कि मन क भीतर की जो चाहना है वह कभी नही हो पाती। इस विवशता पर जानता हूँ मा मुझे क्षमा कर देंगी, जैसे कि सदा ही करती रही हैं। पर मेरा जलना मुझ से कैसे छूटे ?

मा की याद मुझे भूलनी नही है। क्योकि मेरे लिए पिता भी वही रही। पिता को मैंने जाना ही नही। सुनता हू दो वष का था तभी उनका देहान्त हो गया। न किसी और सम्बन्धी ने हाल का पता है। मेरा पालन पोषण एक उन्होंने ही किया। पिता के देहान्त के बाद हम मामा के यहा आ गये। मामा का स्वभाव अलग था। ससार म उन्हे रुचि न थी। मामा की गृहस्थी का भार भी मा पर आ रहा समझो। हम तीन भाई बहन थे और मामा की गृहस्थी म भी तीन जन कहा। इस तरह सात आठ जना की गृहस्थी माता जी क कधा पर आ रही। शुरू म मामा की पन्द्रह रुपये की नौकरी लगी। मैं तब चार से भी कम वष का रहा हूँगा लेकिन पन्द्रह रुपये की आमदनी म हम सात-आठ जन कितनी खुशी से रहते थे। आज भी याद करते है तो अचरज होता है। मामा निमग्न थे। माता जी पर व्यवस्था थी और सब काम इतने आनन्द और ढग से चलता था कि अनुमान नही किया जा सकता। चार-पाच वष रेल की नौकरी का न हुए होंगे कि मामा को घर दूभर हुआ। उनका मन ऊचा था और धम पुस्तको के स्वाध्याय ने जो प्रेरणा दी थी उसका निवारण सम्भव न हुआ। गृहस्थी उन्हे बाधकर न रख सकी। आत्म प्राप्ति की खोज म उन्होने सन १० म तार स इस्तीफा देकर नौकरी छोड दी और हम छ जना का सब भार माँ पर आया।

मामा पहले हिमालय के पहाड़ घूमे, फिर इधर उधर गये और अन्त मे उन्होंने एक आश्रम स्थापित किया। मा हम सब को लेकर घर आ रही और नाना जतन स सबको कायम रखा। हम इतने प्राणियो का बोझ कम न था लेकिन भाई के माग म वह बाधा नही बनी। ऊँचे लक्ष्य को लेकर जब भाई जा रहे हैं तो घर गहस्थी की, ससार की बातो का ध्यान तक दिलाना माँ ने सही न समझा। मामा की नई उमर की पत्नी थी ? नन्हा-सा गोद का बच्चा था। मानो सब पर छाह का हाथ रखकर मा ने प्रसन्नता से कहा, 'भाई तुम्हे ऊपर से पुकार आइ है तुम बडे बड भागी हो। जाओ, इन सब बाल बच्चो की चिन्ता लेकर तुम्हारे कुछ काम आ सकू तो यही मरे लिए बहुत है।' इस अभय को लेकर मामा गय और महात्मा बन गये और अब तक महात्मा हैं। मा निस्सहाय निराश्रित दो परिवारो क बोझ को लेकर हारी नही। उन्होने विलाप नही किया न भाग्य की प्रतीक्षा की बल्कि प्रयत्न पुरुषाथ को हाथ म लिया। अतरौली के कस्बे म बैठकर दाल का काम शुरू किया। अरहर की दाल घर के सब लोग दलते और वह दालें दिसावर भेजी जाती। इसके बाद शायद कुछ इक्के रखे गये और चलवाये गए। यह कमाल का समय उद्यम स भरा रहा और परिस्थिति की प्रतिकूलता खल न पाइ।

उसके बाद महात्मा जी का आश्रम बना और हम दोनो बालक—मैं और वीरेन्द्र आश्रम चले आय। मैं सातवें वष मे था और वीरेन्द्र मुझसे भी तीन वष छोटा था। उस समय की मा की ममता मुझे याद है। हम छोडत उनका दिल टूटता था। आश्रम मे बालक नियमो की सख्ती म रखे जाने वाले थे। जूता पैर मे हो न सकता था और न किसी तरह का आराम। पर मा मे ममता से बडी भी चीज थी। मन कच्चा करती तो औरो का क्या होता जो उनकी ओर देखकर चलत थे। लेकिन हम दो बालको के जाने से माँ का बोझ कम न हुआ। दो कन्याएँ और उनके रक्षण म आ पहुँची। आश्रम म एक लाला गेंदनलाल जी सहयोगी बन और अपना जीवन आश्रम को दते समय उन्होंने दोनो कन्याएं माता जी को सौंपी। अब पाँच जन माँ की शरण म थ। मामा की पत्नी दो बहनें और वे नई बहनें। मा को अब तक अक्षर ज्ञान न था। किन्तु उनम साहस था और व्यवहार बुद्धि। बम्बई म महिलाओ की एक सस्था होन का उन्ह पता लगा और वह वहाँ पहुँची। एक-दो वष क अन्दर माँ ने वहाँ इतनी योग्यता प्राप्त कर ली कि एक सस्था का भार सम्भाल सकें। उनकी तत्परता और कमपरायणता स उनकी लोकप्रियता बढती

गई। जहाँ जाती वहाँ एक क्षण के लिए भी परायापन न रहने देती। उनके सुख दुःख में मिल जाती और सबको अनुभव होता कि जैसे यह उनकी अपनी आत्मीय ही हैं। इस गुण ने उन्हें हर परिस्थितियों में सम्भाले रखा और कभी अवसर न आया कि वह अपने एकाकी भाग्य को लेकर उस पर चिंता कर सकें। मानो सब कहीं उनसे सहारा माँगा गया और अनेकों के लिए अंत तक वह आश्रय बनी रहीं।

मैं आश्रम में कोई छः साल रहा। आश्रम रेलसे २५ मील और पक्की सड़क से आठ मील दूर एक जंगल में था। माता जी वहाँ छटे छमाहे पहुँच पाती। उस समय की मुझे अब तक याद है। वह मेरी माँ थीं लेकिन आश्रम के साठ सत्तर हम सभी बालक उन्हें माँ मानते थे। और जब वह कुछ लाती तो सबके लिए लाती थीं। वीरेन्द्र को बहुत दिन बाद जाकर पता चला कि उसकी माँ दूसरी हैं। मेरे साथ वह माँ को माँ और मामी को मामी कहता था। वीरेन्द्र एक बार बीमार पड़ा। बीमारी चिन्ता का कारण बन आई। माँ उन दिनों इंदौर के वनिताश्रम की अधिष्ठात्री थीं। पता लगते ही आईं और फौरन वीरेन्द्र को आश्रम से ले गईं और जब तक उसे पूरी तरह आराम नहीं हो गया, शायद पूरे दो हफ्ते तक मेरठ में अकेली उसकी तीमारदारी में बनी रहीं। जीवन के दूसरे कामों में वह कभी इतनी नहीं भूलीं कि सेवा और स्नेह के अवसर पर वह चूक जाएँ। सन् १९ में मैं आश्रम छोड़कर चला आया। उस समय माँ दिल्ली के महिला-आश्रम की संचालिका थीं। आश्रम का सब भार उन पर था—शिक्षण का व्यवस्था का और अर्थ-संचय का भी। मुझे आते ही उन्होंने पढ़ने के लिए अपने से दूर भेज दिया। मैं उनका एकलौता बेटा था। मुझ पर उनका लाड़ कम न था लेकिन सदा वह उसे काबू में रखना जानती थीं। मैं पढ़ने के लिए बिजनौर चला गया। मैट्रिक का इम्तिहान देने के लिए दिल्ली लौटा। उस समय की बात याद है माता जी चुस्त जैन थीं। मैं इधर असावधान हो चला था। मंदिर जाना छूट गया था और रात में भी भोजन कर लेता था। माँ ने कभी कुछ न कहा लेकिन कभी घर पर रात हो जाने पर खाना भी मुझे नहीं दिया। बड़ी प्रतीक्षा में रहतीं लेकिन दिन ढल जाता और पहुँचते मुझे अँधेरा हो जाता तो भोजन वह उठाकर रख देतीं, कहतीं—ले अब फल और दूध ही तुझे मिल सकता है। मुझे यह खाने में रात दिन का भेद महत्त्व का न लगता। लेकिन माँ रात हो जाने पर पानी तक का घूँट न लेतीं और जब मुझे

मालूम होता कि मेरी प्रतीक्षा में उन्होंने स्वयं भी नहीं खाया है और अब रात-भर बिना पानी उन्हें रहना होगा और अगले दिन दस बजने से पहले शायद ही उनके मुंह में कुछ पहुंच सके तो मैं अन्दर दुखी हो जाता। मां के कहने का ढंग यही था। वह ऊपर से शिक्षा के तौर पर कुछ न कहती थी। अपने दुख के जरिये मानो कह जाती थीं। शायद यही उनकी शक्ति का कारण था।

एक बार की बात है। मेरे मन के एक निश्चय का उन्हें पता चला। उन्होंने कहा कुछ नहीं, दो-तीन रोज निकल गये। एक दिन रात को अकेले में ग्यारह बजे धीमे से पूछा— बेटा, यह तेरा निश्चय है। बहुत धीमे पूछा था। मैंने कहा— हां मां, और क्या हरज है इसमें?' मां ने कुछ उत्तर नहीं दिया। वह मुझे देखती रहीं। देखते-देखते उन आंखों में आंसू आये और हाथों में मुंह लेकर वह मेरी गोद में गिर पड़ीं और फफक-फफक कर रोने लगीं। दूसरी कोई भी बात नहीं हुई। आखिर मैंने गोद से उन्हें उठाया। कहा— तुम्हें इतना दुख है तो वह नहीं होगा मां। पहले तुमने क्यों नहीं कहा।' मां ने तब मुझे झुकाकर अपनी गोद में ले लिया और वह प्रकरण शान्त हुआ।

यह था किन्तु उनकी दृढ़ता और साहस का ठिकाना न था। उनके महिला-आश्रम की व्यवस्था में विरोध पड़ गया। पुरुषों की समिति एक ओर, माता जी के नेतृत्व में स्त्रियां दूसरी ओर। पुरुषों ने संस्था का सब रुपया रोक लिया और असहयोग ही नहीं किया निन्दा और विरोध तक किया। चालीस से ऊपर संस्था में रहने वालों की संख्या, पैसा एक भी नहीं। आमदनी के रास्ते बन्द। बाहर विरोध और लाछना का तूफान। लेकिन ऐसे समय माता जी अडिग रहीं। मन में क्षण को हार न लाई न अपना भरोसा छोड़ा और अन्तकाल तक सिर्फ अपने बल बूते पर उस संस्था को जीवित रखे रहीं।

सन ३० में मैं जेल गया। उन्हें मालूम हो गया कि आज कैदी यहां से बाहर भेजे जा रहे हैं, और अमुक स्टेशन से उन्हें सवार किया जायगा। देखा माता जी वहां मौजूद हैं। मौजूद ही नहीं, पूरी व्यवस्था के साथ हैं। उन्होंने आगे बढ़कर पुलिस सब इन्सपेक्टर से बात की और जाने वाले हम सब कैदियों का सत्कार किया। सबको खूब मिठाई फल दिये। रेल आई और चलने लगी तो उन्होंने राष्ट्रगान आरम्भ किया। उस समय की उनकी मुद्रा भूलती नहीं है। कंठ उनका रुकता था वाणी अवरुद्ध होती थी। आंखों में पानी था। लेकिन होंठों पर उनके

राष्ट्रगान था, और बधाई थी। रेल के साथ वह धीरे धीरे बढ रही थीं और आंख मुझ पर टकी थी। वह आंखों से रोती और मुह से हँसती मुद्रा कैसे मैं भूल सकता हू।

गुजरात जेल में वह मुझसे मिलने आइ। बहन साथ थी और पत्नी जिसकी गोद म एक महीने का बच्चा था। डाक-गाडी वहाँ बस नाम के लिए ठहरती थी। हुआ यह कि बच्चे को कुनी के हाथ मे दे जल्दी मे पत्नी ही एक उतर सकी और गाडी चल दी। माता जी ने जजीर खींची और गाडी इस बीच म ढाई फर्लांग—

यह सहज और प्रत्युत्पन्न बुद्धि उन्हें सदा प्रस्तुत रही। वीरेन्द्र के विवाह का प्रश्न आया। बिरादरी विरुद्ध थी। दस तरह के विरोध और प्रतिरोध नजर आए। मैं उस समय नादान था और पग पग पर चकरा उठता था। बड़े-बूढो से इसे पार पाना यह समझ न आता था। लेकिन माताजी की दक्षता और कुशलता विलक्षण थी। अन्त म देखा कि जो विरोधी थे वही आगे आकर काम को सम्भालने वाले बन गए। बिरादरी के गिनती के घर थे। माता जी स्वय एक-एक म गइ और अन्त म देखा सबका मान रह गया है और सबका सहयोग मिल गया है।

सन् ३२ म पत्र पाकर मैं लौटा तो देखा माता जी खाट से लगी हैं? उन्होंने बीमारी की कोई सूचना न दी थी। कहती रही थीं कि रहने दो। मुझे क्या हुआ है। बाल बच्चे सर करने गये हैं। क्या लिखते हो। आते ही देखा, रोग जलोदर है, मैं चिन्ता म पड़ा। किन्तु कुछ न किया जा सका। डॉक्टर की दवा नही दी जा सकी। विदेशी दवा का उन्हें त्याग था। और भी जो नियम थ, अन्त तक उन्हें पालती गइ। अन्त समय कष्ट बहुत था। कै पर कै होती थी प्यास बहुत लगती थी। पर सन्ध्या होने के बाद कुल्ला तो वह कर लेतीं लेकिन रात म पानी एक बूँद गले से नीचे नही उतार सकती थीं। क्योंकि उन्हें त्याग था।

गर्मी उन्हें बेहद लगती थी। लेकिन ज्वर भी था। बार बार रजाई ऊपर से अलग करती और मैं फिर लेकर उन्हें ढक देता। वह फिर उघाड लेतीं। मैंने क्रोध म कहा—"क्या करती हो, ओढ लो। माँ की आँखें मुझ तक उठी। आंखों म प्रार्थना थी और जाने कितनी ममता थी। वे मृत्यु से सिर्फ दो मिनट पर थीं।

कातर होकर बोली—'बेटा'! मैंने नाराजी म रजाई को उन पर पकडे रखा। बटा छोड दे, गर्मी बहुत है', कहकर उन्होने रजाई को अपन ऊपर से फेंक देना चाहा, जो नही हो सका क्योकि मैं उसे कसे हुए था। आखें प्रार्थना म मेरी ओर रही और उसके डेढ मिनट बाद उन्होने सांस तोड दिया।

आखिरी याद मुझे सदा चुभती है पर सारी ही याद चुभती है, क्योकि जीवन भर उनसे मैं स्नेह ही पाता रहा, पर उन्हें कष्ट ही देता रहा। किसी तरह का आश्वासन उनके जीवन काल म मैं उन्हें न पहुँचा सका। □



जैनेन्द्रकुमार की मौत पर

जने द्रकुमार की याद म कुछ कहना मेरे लिए खुशी की बात नही है। सन '४४ के नये साल का यह शुरू है। सन '०५ म जैने द्रकुमार ने ज म लिया। अभी दिन न थे कि वह याद के ही लिए रह जाता और उस पर कहने की जरूरत होती। उसे अभी बनना था। अभी उसे जीना लिखना कुछ करना था। पर अफसोस कि वह जि दगी ब द हुई जिससे उम्मीदें बाकी थी। लेकिन जहा आदमी का बस न हो वहाँ अफसोस भी किस वास्ते ? इससे आइये उसकी आत्मा के लिए अब हम शा ति चाहे।

और शा ति की उसे जरूरत हो आई थी। वह परेशान रहने लगा था। काफी को पहले शहर का अ देशा हुआ करता था। लेकिन अदब आगे बढ गया है और शहर छोटी चीज रह गई है। जने द्र दुनिया के अ देशे से परेशान था। परेशानी उसकी पेशानी की लकीरो म बेहाल हाल म, यहाँ तक कि लिबास म भी दीखती थी। इस तरह उसकी खुद की तरफ से शायद कहा जा सके कि उसका मरना बुरा या समय से पहले नही हुआ। उमर नई थी पर अ दर से वह पुराना हो चला था। जमाने के साथ न था उस पर हैरान था। चुनाचे जमाना उसे भूलने लगा और आगे बढ गया था। जने द्र सोचने लग गया था कि उसकी हस्ती यहाँ किस हक स और किस जरूरत के लिए है। यह सवाल अलामत है कि जि दगी उसम ढल चली और बुझा चाहती थी। आखिर उस सवाल को पूरा जवाब मिला इस शक्ल म कि वह अब नही है।

यकीन कीजिए कि सब मिलाकर आदमी वह बहुत अजीब स था। पली

कहानियों पर कान न दीजिये। कहानियों में कुछ का-कुछ बन जाया करता है। वह खुद भी तो कहानियां गढ़ता था। इससे कहानियों के फरेब को समझता था। किसी कदर उन कहानियों के फरेब पर जिन्दा भी रहता था। कहा करता था कि 'मेरी लिखाइ में लोग मुझे नेक तक मान लेते हैं। चलो अच्छा है ऐसे नेकी फलती और बदी मुझ तक सिमटी रहती है।' लेकिन इस लीपापोती के बावजूद मैं आप से मान लेने को कहता हूँ कि आदमी वह एकदम बुरा न था। एक तो वजह यह कि असल में आदमी कोई भी बुरा नहीं होता। दूसरा यह कि जानते बूझते कोशिश उसकी बदी से बचने की रहती थी जैसे कि हर इन्सान की रहती है।

शुरू से जैनेन्द्र में इरादे की ताकत की कमी देखी जा सकती है। वह किस्मत बनाने वालों में से न था, किस्मत ही उसे बनाती गई। जिन्दगी में उसकी कोई कारगुजारी नजर नहीं आती। एक मद्धम बहाव में वह जिन्दगी बहती चली गई। एक भटके निरीह बालक की तरह उसके छुटपन के दिन गुजरे। वह भौंचक-सा सब ओर देखता और कभी अपने लिए फैसला करने की जरूरत न समझता। अंग्रेजी में जिसे half wit कहते हैं कुछ वही कैफियत समझिये। अचरज में बौखलाया वह अपने साथियों के बीच रहता था और साथी सिर्फ उसे गवारा करते थे। अपनेपन का और अपनी जगह का उसे पता न था। क्लास में किसी सब्जेक्ट में साल में पहले नम्बर आ गया तो दूसरे किसी में एकदम पिछड़ रहा। ताज्जुब है कि फेल वह किसी दरजे में नहीं हुआ। पर पास होता गया तो आपने बावजूद। सदा एक खोये और भूले हुए ढब में वह रहता था और दुनिया उस बाहर और अन्दर चारों तरफ चक्कर में तैरती हुई मालूम होती थी जिसमें कुछ उसकी समझ की पकड़ में न आता था। घूम फिर कर एक ही सचाई उसके लिए रह जाती थी—वह उसकी माँ।

चलिये ऐसे मैट्रिक हो गया और वह कालिज में पहुँचा। और कालिज भी छूट गया और वह दुनिया में आ पड़ा। पर दुनिया से उसकी किसी तरह की जान पहचान न थी। समुन्दर की लहरों पर तिनका तैरता है, क्योंकि हलका होता है। उसमें भी कहीं किसी तरफ से वजन न था और बरसों लहरों पर वह इधर-उधर उतराया किया।

कल्पना में लाइये एक तईस बरस के जवान को। उसमें जिस्म होना चाहिए, हौसला होना चाहिये, इरादा होना चाहिए। आँखों में उसके रोशनी और बाजुओं में

हुए। पर जनेन्द्र का खाका ही और था। हलका दुबला जिस्म, और इरादा लापता। आंखो म उसके वेगानगी थी और कदमों थी।
मामम उसके तइ बस एक मरकज म समाई थी—यानी, उसकी की आखा मे चिन्ता बढती जाती है। तब सोचना कि कुछ करना ने म समय ही निकलता, और होने म कुछ न आता। जहा कुछ ह दुनिया उसे तिलिस्म थी। और इकला पडकर आदमी सोच ही छ नही सकता।
कर आखिर एक दिन हिम्मत बाधी। कहा—"मा पचास रुपये
— पचास रुपये !"
कि मा की आखा म तकलीफ है। देखकर उसन अपन को बेहद न कहा— 'हाँ मा, कलकत्ता जाऊँगा।"
या— कलकत्ता !' और आगे कुछ नही कहा।
थामकर बोला—"वहाँ से माँ जल्दी ही नौकरी लगने की खबर
और कलकत्ते म नौकरी की तलाश हुई। पच्चीस रुपय का काम बहुत है। पर पसे टूटते रहे, नौकरी नही मिली। पक्का था कि मा को तकलीफ देने से मर जाना अच्छा। पर बटे के दूर परदश में मा को कौन बडा सुख हो जाता। इसस पास के पस पूरी तरह वरग वही माँ के पास लौट आये।
जनेन्द्र के व्यक्तित्व का सही माप आपका द सकती है। मिलने या म राह बनाने की उसम लियाकत न थी। वह चीज बिलकुल असर और रौब पडता है। ऐसे आदमी के पास सपन जरूर कुछ करते है। पर सपनो म दम नही होता और असलियत के आग वे हैं।
नहोना ही हुआ कि जैनेन्द्र ने लिखा। लिखने के नाम यू तो उन्हें। पढा तब तक लिखने से बचते रह। कालिज के पहले साल मे र जो लिखना पडा तो बस न पूछिए। प्रोफेसर ने दखा कि यह
वे

लड़का टालना ही जाता है, लख कभी लिखकर नहीं लाता। जनेन्द्र न प्रोफेसर की निगाह ताड़ी। फिर तो बड़ी फिक्र के साथ कहीं से एक तो कही से दो पैराग्राफ लेकर कई किताबा से जोड़-जोड़कर लेख तैयार किया। जहाँ-तहाँ से जुमलो को सही गलत लिखा कि पता न चल। मन म सोचा कि प्रोफेसर कायल हो जायगा। क्लास म प्रोफेसर ने एक नाम पुकारा और उस लड़के को दिखाकर उसके निबंध की बहुत तारीफ की। फिर जैनेन्द्र की पुकार हुई। उसकी छाती फूल आई।

प्रोफेसर ने कहा—बेंच पर खड़े हो जाओ।

सौ से ऊपर लड़का की निगाहें उन पर जमी और वह बेंच पर खड़ हुए।

तब प्रोफेसर ने उन्हे दिखाकर कहा—'ऐसे बेवकूफ भी कालिज म आ जाते हैं कि '

तसल्ली की बात है कि उस वक्त जनेन्द्र का नाम जैनेन्द्र न था। और आगे जाकर एक खास मौके पर उन प्रोफेसर का जैनेन्द्रकुमार म परिचय कराया गया। उससे प्रोफसर की इज्जत कम नही हुई। पर उन्हे गुमान न हुआ कि यह वही लड़का है। और जनेन्द्र को खुद भेद खोलने की जरूरत क्या थी। खैर लेकिन जनेन्द्र क मन म उस हादसे की शाम गहरी बैठ गई थी। सपने म भी नही सोचते थे कि लिखेंगे। पर उनके एक मित्र, जिन्दगी की ऊँच-नीच म से गुजरत एक प्राइमरी स्कूल म मास्टर हुए। स्कूल था कुल चार जमात तक। पर शौक देखिए कि वहाँ से मास्टर साहब न हाथ का लिखा एक मासिक निकला। पाँचेक महीने मे मित्र को वहा स भी किनारा मिला। आते वक्त पत्र की कापियाँ वह साथ बाँधते लाये। बच्चा का तमाशा—जनेन्द्र तक को उसम लिखने मे क्या झिझक होती। पर करिश्मा यह हुआ कि उस चटसाल क बच्चा के खिलौने स पत्र म लिखे दो किस्से हिंदी के उस वक्त के सबस मशहूर रिसाले म छप हुए जनेन्द्र के देखने म आ गए। जनेन्द्र इस पर हैरत म थे क्याकि कुसूर उनका न था। पर इस तरह जीन लायक रास्ता जरूर उन्हें दीख आया।

जनेन्द्र की जिन्दगी मे बड़े उतार चढाव नही आये। वह कुछ बँधी जिन्दगी रही जिसम लहरें उठी तो बाहरी हवा की थपेड पर नही तो जिसकी सतह जाहिरा सोई पड़ी रही। न गहरे राज की बात उसमें दिखाई देती है। जिन्दगी वह मामूली आदमी की है और उसम रोमानी रग की रौनक नही है। जैनेन्द्र ने ज्यादा नही लिखा जिसकी वजह एक आदमी जानना चाहेगा। क्या यह कहना

ज्यादा होगा कि भागत वक्त को पकड़ने लायक जाग और फुरती उनके दिमाग़ म न थी ? या यह कहा जाए कि उनके अन्दर का ख़मीरा ही थोड़ा था ? पर इतना सही है कि जो लिखा औसतन अच्छा लिखा। भाषा का उन्हें ख़ास ज्ञान न था इससे शुरू म उनकी भाषा अटपटी समझी गई। पर आगे जाकर यह अज्ञान शायद भला साबित हुआ। क्योंकि इससे भाषा के ज़रूरत स ज़्यादा दुरुस्त होने का ख़तरा भी नहीं रहा। आम शिकायत है और ठीक है कि जो ख़ुशबयानी ताज़गी और दिखावट शुरू म देखने म आई वह उनके लिखने म पीछे न रही। रवानी थम चली, ताज़गी थक आई और ख़ुशनुमा दिखावट की जगह भारी भरकम सजावट लेने लगी। अपनी अपनी पसन्द है, लेकिन नीति और उपदेश और विचार के बोझ से भारी होने के कारण रचना उनको प्यारा न लगे तो इसम शिकायत की वजह नहीं है। पिछले जैनेन्द्र को और उनकी रचनाओं को कोशिश के साथ ही प्यार किया जा सकता है। पर इसम शक है कि जिसमे कोशिश दरकार हो उसे प्यार ही कहना चाहिए।

उनके लिखे चार उपन्यास हैं कुछेक कहानियों की जिल्द और दो एक और किताबें। अनछपी और अधलिखी चीजों की बात की नहीं जा सकती। इस सब साहित्य म आदमी के मन के भेदों को खोजा गया है और उलझनों को खोलने की कोशिश है। व्यक्ति को परिधि मानकर सवाल जमाए और बूझे गए हैं। पर इस तरह असल सवालों का हल मिलेगा ऐसा नहीं मालूम होता। सवाल एक के मन का नहीं सारे समाज के निज़ाम का है। समस्याएँ रोटी-कपड़े की हैं। दिक्कतें असली हैं और जनेन्द्र का साहित्य ख़्याली है। पढ़ने म वह उलझाता और इसी से किसी क़दर अच्छा लगता है। भावनाओं को कुछ उभार भी वह देता है। पर क्या वह बल और प्रकाश भी देता है ? समस्या को उपजा देना और उसका हल सुझाने में बचना बड़ा ठाट नहीं है। जैनेन्द्र की रचनाओं में यही है और हमारी ज़रूरत कुछ दूसरी है। इंसान हवाई नहीं है। मगर शक होता है कि जैनेन्द्र हवाईयत की तरफ बढ़ने म लगे रहे। इंसान से दूर जाकर आईडियल भला कहाँ बैठा है ? लेकिन उनकी किताबों म इंसानी करेक्टर और जिस्म बराबर कम ही होता चला गया। यहाँ तक कि गोया अपनी आर्टिस्टिक ईमानदारी म, वह ख़ुद भी अपने करेक्टर और जिस्म से मुक्त चले गए। आदमी अपने ख़्यालात का अक्स होता है। इस लिहाज़ से क्या यह कहना होगा कि जैनेन्द्र के ख़्याल

उनकी ज़िन्दगी और सेहत की तरह किसी कदर पस्त और बेदम थे ?

उनकी फिलासफी जाननी हो तो दो लेखों के नाम सुनना काफी है। एक लेख उनका है— अबुद्धिवाद। यानी, जिन्दगी को अक्ल से चलाना बजवली है और शुतुरमुर्ग के रेत में सिर गाड़कर दुश्मन के हाथ आसानी से मर जाने के तरीके को गलत कहना गलती है। दूसरा है—'कमाई और भिखाई' जिसमें वह कहते हैं कि कमाने से भीख माँगना पेट भरने का बेहतर ढंग है। इस फिलासफी पर कुछ न कहना ही अच्छा है।

उसूल एक चीज है और मुहब्बत उससे बिलकुल जुदागाना है। हरियाली मुहब्बत में से सिंचकर तैयार होती है। उसूलों की दुनिया में और सब दुरुस्त होता है सिर्फ वहाँ ज़िन्दगी नहीं होती। मालूम होता है कि जैनेन्द्र पीछे उसूलों के फेर में घिरते चले गए और ज़िन्दगी का पल्ला उनसे छूटता चला गया।

ताहम उनकी तारीफ करनी होगी। उन्होंने रुख नहीं बदला। वक्त के आगे सिर नहीं खम किया। टेक जो पकड़ी आखिर तक निबाही। आस पास की स्थिति से समझौता नहीं किया। इसमें भी एक आन है। रस्सी जल जाती है, पर ऐंठन नहीं छोड़ती। इसका मतलब बुरे माइनों में लिया जा सकता है। लेकिन उसमें एक खूबी भी है। जैनेन्द्र अपने से दूर नहीं गये बाहर तक नहीं आये। अपनी खुदी में चाहे डूब ही जायें, खुद्दारी को उन्होंने नहीं छोड़ा। खुदी और खुद्दारी में जो फरक है उसकी पहचान अगर उन्हें नहीं हुई तो कहा जा सकता है कि वह पहचान बहुत मुश्किल है और बहुत बड़े-बड़ों को नहीं हो पाती। पर यह भी तो एक बात है कि दूसरों की सब सुनी जाय और रही अपने मन की हो जाय।

जैनेन्द्र की किताबों को चुपचाप नहीं लिया गया। उनकी तारीफ हुई और निन्दा हुई और दोनों साथ हुई। उनसे साहित्य में कुछ सरगर्मी दिखाई दी। लेकिन इसका नतीजा जैनेन्द्र के हक में कुल मिला कर अच्छा हुआ यह नहीं कहा जा सकता। हो सकता है कि इससे उनके बैलेन्स में फरक आया। जैनेन्द्र के एक हितैषी ने कहा था कि लिखना शुरू किया तब जैनेन्द्र लड़का था, पर एक किताब छपी कि बुजुर्ग बन गया।' इसको तुहमत समझा जाय तो भी इसमें कुछ सचाई तो है ही।

कुछ दिन की बात है कि जब उनका अन्त पास आ रहा था। एक मित्र ने कहा—'जैनेन्द्र हमारी दुनिया के जीते जागते सवालों को लेकर अपनी कलम

चलाओ।' जनेन्द्र ने कहा—'मैं लेखक नहीं हूँ। इस लायक नहीं हूँ कि तुम्हारी कुछ माँग उठा सकूँ।' कहा गया—'तुमसे उम्मीदें हैं भाई? समाज के लिए उपयोगी हो कुछ ऐसा लिखो।' उसने कहा—समाज! मैं उसको नहीं जानता हूँ।' और कहकर ऐसे भाव से मित्र को देखा कि वह पानी हो आये। बोले—तो जाने दो, भाई! जो चाहे लिखो, पर लिखो जरूर। बरसों से कोई नई किताब तुम्हारी सामने नहीं आई!' उसने कहा—'मुझमें लिखने की तबीयत अब बुझ गई है।' मित्र इस जवाब पर जैनेन्द्र को देखते हुए चुप रह गये। सोचने लगे कि दिन कहीं बुरे तो नहीं आ रहे हैं।

इस तरह देखते जनेन्द्र की मौत अचानक ही नहीं हुई। मानो वह होनहार ही थी। धीमे धीमे जैनेन्द्र खुद उधर जा रहे थे। पर इससे उनके उठने से हमारा सदमा कम नहीं हो जाता। जो हो बात वह नहीं है। उनको हमने प्रशंसा दी है आलोचना भी दी है। पर जीते जी उन्हें कमी और भूख स्नेह की थी। उनकी स्मृति के प्रति अब भी हम स्नेह ही दें। और सुनते हैं परलोक में स्नेह के सिवा दूसरा कुछ पहुँच भी नहीं पाता है! □

नेहरू और उनकी कहानी



जवाहरलाल जी का जीवन चरित्र मैंने मूल अंग्रेजी में पढ़ा है। हिन्दी अनुवाद को जहाँ तहाँ से एक निगाह देख सका हूँ। मूल में क्या और अनुवाद में क्या, पुस्तक तो जवाहरलाल जी की आत्म-कथा है। उधर ही हमारा लक्ष्य रहना चाहिए।

जो जवाहरलाल जी राजनीति के आँगन में दीखते हैं, वही इस चरित्र में घनिष्टता से व्यक्त होते हैं। राजनीति में उनके व्यक्तित्व की एक झाँकी दीखती है। वहाँ, वह आज और कल में बँटे हुए हैं। पुस्तक में उनके व्यक्तित्व का वह अखण्ड समग्र रूप व्यक्त हुआ है जो बँटा हुआ नहीं है—जो उनके आज और कल को एक सूत में पिरोए रखता है। जवाहरलाल का जो व्यक्त रूप है उसकी विविधता को कौन से जीवन-तत्त्व थामे हुए हैं उसके भीतर आत्मा क्या है—इसी को जानने और खोलने का यत्न पुस्तक में है। जिन्दगी की घटनाओं का वर्णन नहीं है—उस जिन्दगी का सिद्धान्त पाने की कोशिश है।

अनुवाद में पुस्तक का नाम 'मेरी कहानी' है। हमारा बीता हुआ जीवन हमारे निकट कहानी हो जाता है। बीती घटनाओं के प्रति हममें वासना शेष नहीं रहती, केवल भावना रहती है। उस भावना में रस रहता है, वासना का विष नहीं रहता। इसीलिए बहुत पहले की जिन्दगी का शत्रु अन्त में हमारा शत्रु नहीं रहता। आगे निकलकर शत्रु मित्र कुछ रहता ही नहीं—वहाँ से स्वयं अपने ही दर्शक बन जाते हैं। साधारणतया जीवन में हम ही अपने प्रदर्शक होते हैं—अपने को दिखाते चलते हैं और अहंकार में से रस लेते रहते हैं। पर, अगर हम जरा अपने ऊपर ही आँखें मोड़कर देखना शुरू करें तो दृश्य भी बदल जाता है

हमारा चित्र भी बदल जाता है। तब, जीवन का अथ हम स्वय नही रहत। मालूम होता है हम बस यात्री हैं और उस यात्रा पथ को चिह्नित कर जाना ही हमारा उद्देश्य था जो हम करत चले आए हैं।

इस तरह बडी से-बडी बात कहानी' हो जाती है, और कोई घटना अपने-आप मे महत्त्वपूण अथवा सम्पूण नही रह जाती। मालूम होता है छोटी चीज़ क्या, बडी चीज़ क्या, सब बस उतने अश मे अथ पूण है कि जितने म वह हमारी पथ यात्रा म सहायक अथवा बाधक हुई है, अ यथा वह नही जसी है।

जवाहरलाल का आत्म चरित्र आरम्भ से ही का य सा लगता है। अपना बचपन, अपना युवाकाल—लेखक सब एक मधुर तटस्थता से देखते और लिखते गए हैं। मानो, उस अतीत से उनका नाता तो है, पर लगाव नही रह गया है। वह अपने ही अभिनय के एक ही साथ दशक भी हैं।

जहाँ पुरानी याद छिड गई है और जहाँ आलोचना है, वहाँ वह स्थल अपना ही मधुर काव्य सा जान पडता है। यहाँ साहित्य की छटा है और ऐसे स्थल पुस्तक म कम नही हैं। इस प्रकार पुस्तक शुद्ध साहित्य भी है। साहित्य का लक्षण है, वह वेदना की वाणी जो निरी अपनी न हो अर्थात प्रेम की हो। वैसी वेदना पुस्तकों म पयाप्त है। वह ही उसे साहित्य बनाती है।

उस वेदना को हृदयगम करके हम फिर तनिक जवाहरलाल की जीवनधारा की ओर मुडें और स्रोत पर पहुँचे—

युवा नेहरू ने जीवन म प्रवेश किया है। उत्साह उसके मन में है, प्रेम और प्रशसा तथा सम्पन्नता उसके चारो ओर है और सामने विस्तत जीवन के अनेक प्रश्न है—अनेक आकाक्षाएँ और भविष्य की यवनिका के दान दान खुलने की प्रतीक्षा है। अभी तो वह अभेद्य है, अँधेरा है।

जवान नेहरू आशा से भरा है। आशा है इसीलिए असतोष है। भविष्य के प्रति उत्कण्ठा है, क्योंकि वतमान से तीव्र अतप्ति है। वह विलायत म रहा है, वहीं पला है। जानता है, आजादी क्या होती है। जानता है, ज़िन्दगी क्या होना है। साहित्य पढा है और उसके मन म स्वप्न है। लेकिन, अब यहाँ आदमी हिन्दुस्तान म क्या देखता है? देखता है गुलामी! देखता है गन्दगी!! देखता है निपट गरीबी!!! उसके मन मे हुआ कि यह क्या अ धेर है? यह क्या गजब है?—उसका मन छटपटाने लगा। ऐसे और भी युवा थे जो परेशान थ।—जहाँ तहाँ

राष्ट्रीय यत्न चल रहे थे। वह इधर गया, उधर मिला पर कहीं तृप्ति नहीं मिली। ये लोग और ऐसे स्वराज्य लेंगे!—वह अशान्त रहने लगा। जिनका प्रशंसक था, उन्हीं की आलोचना उसके मन में जागने लगी। वह युवक था आत्मोन्मुख, अधीर, सम्पन्न और विद्वान। वह कुछ वह चाहने लगा जो वास्तव इतना न हो जितना स्वप्न हो। पर स्वप्न तो अशरीरी होता है और मानव सशरीर। स्वप्न भला कब कब देह धारण करते हैं? लेकिन इस जवाहर का मन उसी की माग करने लगा। उसके छटपटाते मन ने कहा कि ये उदार, नरम लिबरल लोग बूढ़े हैं। ये क्रांतिकारी लोग बच्चे हैं। होमरूल से क्या है? समाज-सुधार से न चलेगा। ये छोटे-छोटे यत्न क्या काम आयेंगे?—अरे! कुछ और चाहिए कुछ और!—बैरिस्टर जवाहर की सम्पन्नता और उसकी पढ़ाई ने उसमें भूख लहकाई—कुछ और! कुछ और!।

और जवाहरलाल को वह 'कुछ और' भी मिला। स्वप्न चाहता था वह स्वप्न भी मिला। जवाहरलाल को गांधी मिला!

जवाहरलाल ने अपने पूरे बल से गांधी का साथ पकड़ लिया। साथ पकड़े रहा पकड़े रहा। पर गांधी यात्री था। जवाहर ने अपने रास्ते पर गांधी को पाया हो और इस तरह, उसे अपने ही मार्ग पर गांधी का साथ मिल गया हो ऐसी तो बात नहीं थी। इसीलिए थोड़ी ही दूर चलने पर जवाहर के मन में उठने लगा, हैं, यह क्या! मैं कहां चला जा रहा हूँ? क्या यही रास्ता है? यह आदमी मुझे कहाँ लिए जा रहा है? है यह आदमी अनोखा सच्चा जादूगर। लेकिन मुझे सँभलना चाहिए।'

गांधी का साथ तो पकड़े रहा लेकिन शंकाएँ उसके मन में गहरा घर करने लगीं। फिर भी जब साथ पकड़ा तो छोड़ने वाला जवाहरलाल नहीं हो जो हो। और वह अपनी शंकाओं का अपने मन में ही घोंट घोटकर पीने का यत्न करने लगा।

उसके मन में क्लेश हो आया। शंकाएँ दाब न दबती थीं। उसने आखिर लाचार हो जादूगर गांधी से कहा—ठहरो जरा मुझे बताओ कि यह क्या है? और वह क्या है? आओ हम जरा ठहरकर सफर के बारे में समझ-बूझ तो लें।

गांधी ने कहा—यह तो है और वह वह है। मैं जानता हूँ सब ठीक है। पर ठहरना नहीं, चल चलना है।

जवाहर ने कहा—ठहरो, अच्छा सुनो तो। बिना समझे बूझे मैं नहीं चलूंगा।

गाधी ने कहा—यह बहुत जरूरी बात है। जरूर समझ बूझ लो। लेकिन मैं चला।

गाधी रुका था कि चल पडा। जवाहर ने कहा—चलने म मैं पीछे नहीं हू। लो, मैं भी साथ हूँ। लेकिन समझूं-बूझूंगा जरूर।

गाँधी न चलते चलते कहा—हाँ हा, जरूर!

लेकिन जवाहरलाल की मुश्किल तो यह थी कि गाँधी का धम उसका धम नहीं था। गांधी बडी दूर से चला आ रहा था। जानता था कि किस राह जा रहा हूँ, क्या और कहाँ जा रहा हूँ। जवाहरलाल परेशान जान के लिए अधीर, चौराहे पर भौचक स्वप्न दूत की राह देख रहा था। उसने कोई राह नहीं पाई थी कि आया गाधी और जवाहरलाल उसी राह हो लिया। पर उस राह पर उसे तप्ति मिलती तो कस? हरेक को अपना मोक्ष आप बनाना होता है। इसस अपनी राह भी आप बनानी होती है। यह तो सदा का नियम है। इसलिए चलते चलते एकाएक अटक कर जवाहरलाल ने गांधी से कहा—नहीं, नहीं नहीं! मैं पहले समझ लूगा और बूझ लूगा। सुनो विज्ञान का इकानामिक्स का यह कहना है और पालिटिक्स का यह कहना है। अब बताओ, हम क्यो न समझ-बूझ लें?

गाँधीजी ने कहा—जरूर समझ और जरूर बूझ लो। इकोनामिक्स की बात भी सुनो। पर रुकना कैसा? मरी राह लम्बी है।

जवाहरलाल न कहा—मैं कमज़ोर नहा हू।

गाधी ने कहा—तुम वीर हो।

जवाहरलाल ने कहा—मैं हारा नहीं हूँ चलना नहीं छोड़ूगा।

गाधी न कहा—ठीक तो चलो।

वह यात्रा तो हो ही रही है। लेकिन जवाहरलाल के मन म पीडा बढती जाती है। उसके भीतर का क्लेश भीतर समाता नहीं है गांधी स्वप्न पुरुष की भांति उस मिला। अब भी वह जादूगर है। लेकिन अर! वह क्या बात है? देखो, पालिटिक्स यह कहती है इकानामिक्स यह कहती है। और गाँधी कहता है धम। धम? दकियानूसी बात है कि नहीं। है गांधी महान् लेकिन आखिर तो आदमी है। पूरी तरह पढने सीखने का उस समय भी तो नहीं मिला। इटर-नेशनल पालिटिक्स जरा वह कम समझे इसम अचरज की बात क्या है?

और हां, कहीं यह रास्ता तो गलत नहीं है ? पालिटिक्स इकोनामिक्स लेकिन गाधी महान् है, सच्चा नेता है।

जवाहरलाल न कहा—गाधी, सुनो। तुम्हे ठहरना जरूर पडेगा। हमारे पीछे लाखो की भीड यह काग्रेस, आ रही है। तुम और हम चाहे गडढे म जायें, लेकिन काग्रेस को गडढे मे नही भेज सकते। बताओ यह तुम्हारा स्वराज्य क्या है जहा हम सब को लिए जा रहे हो ?

गाधी ने कहा—लेकिन ठहरो नही, चलते चलो। हा, स्वराज्य ? वह राम राज्य है।

—राम राज्य ! लेकिन हमको तो स्वराज्य चाहिए—आर्थिक राजनीतिक, लौकिक ।

—हाँ-हा ! ठीक तो है। आर्थिक,राजनीतिक पर धीमे न पडो, चले चलो !

—धीम ? लेकिन, ग्राप का रास्ता ही गलत हो तो ?

—सही होने की श्रद्धा नही है तो अवश्य दूसरा रास्ता खोज लो। मैं यह जा रहा हूँ।

जवाहरलाल समझने बूझने को ठहर गया। गाधी अपनी राह कुछ आग बढ गया। जवाहरलाल ने चिल्लाकर कहा—लेकिन सुनो अरे जरा सुनो तो ! तुम्हारा रास्ता गलत है। मुझे थोडा थोडा सही रास्ता दीखन लगा है।

गाधी ने कहा—हाँ होगा, लेकिन जवाहर मुझे लम्बी राह तय करनी है। तुम मुझे बहुत याद रहोग।

जवाहरलाल को एक गुरु मिला था एक साथी। वह कितना जवाहरलाल के मन म बस गया था। उसका प्यार जवाहरलाल मे मन म एसा जिन्दा है कि खुद उनकी जान भी उतनी नही है। उसका साथ अब छूट गया है। लेकिन राह तो वह नही है दूसरी है—यह बात भी उनक मन के भीतर बोल रही है। वह ऐसे बोल रही है जसे बुखार म नब्ज। वह करे तो क्या करे ?

इतने म पीछे से काग्रेस की भीड आ गई।

पूछा—जवाहर क्या बात है ? हाफ क्या रहे हो ? रुक क्या गये ?

जवाहरलाल न कहा—रास्ता यह नही है।

भीड के एक भाग ने कहा—लेकिन गांधी तो वह जा रहा है !

जवाहरलाल ने कहा—हां, जा रहा है। गांधी महान है। लेकिन रास्ता यह

नही है। पालिटिक्स और कहती है।

भीड म से कुछ लोगो ने कहा—ठीक तो है। रास्ता यह नहीं है। हम पहले से जानत थ। आओ जरा सुस्ता लें, फिर लौटेंग।

जवाहरलाल न कहा—हां, रास्ता तो यह नही है, और आओ जरा सुस्ता भी लें। पर लौटना कसा? देखो, बायें हाथ रास्ता जाता है। इधर चलना है।

भीड म स कुछ लोगो ने कहा—लेकिन गांधी ?

जवाहरलाल का कठ आद्र हो आया। बडी कठिनाई से उसने कहा—गांधी महान है लेकिन रास्ता

आगे जवाहरलाल से न बोला गया। वाणी रुक गई आंखो म आंसू आ गये।

इस पर लोगो न कहा—जवाहरलाल की जय?

कुछ न वही पुराना घोष उठाया—गांधी की जय!

और गाधी उसी रास्ते पर आगे चला जा रहा था जहां इन जयकारो की आवाज थोडी थोडी ही उस तक पहुँच सकी।

ऊपर क कल्पना चित्र स जवाहरलाल की व्यथा का अनुभव हमे हो सकता है। उस व्यथा की कीमत प्रतिक्षण उसे देनी पड रही है इसी से जवाहरलाल महान है। उस व्यथा की ध्वनि पुस्तक म व्यापी है, इसी स पुस्तक भी साहित्य है। जिसकी ओर बरबस मन उसका खिचता है उसी से बुद्धि की लडाई ठन पडी है। शायद भीतर जानता है कि यह सब बुद्धि युद्ध व्यथ है, लेकिन व्यथता का चक्कर एकाएक कटता भी तो नही। बुद्धि का फेर ही जो है। आज उसी के व्यूह म घुस कर योद्धा की भांति जवाहरलाल युद्ध कर रहा है पर निकलना नही जानता।

यहा मुझे अपन ही वे शब्द याद आते है जो कभी जाने कहा लिखे थे—

"While Gandhi is a consummation Jawaharlal is a noble piece of tragedy Describe Gandhi as not human if you please but Jawaharlal is human to the core may be, he is disconcertingly so

जहाँ से जवाहरलाल दूसरी राह टटोलते है और अपना मत भेद स्पष्ट करते दीखत हैं उसी स्थल से पुस्तक कहानी नही रह जाती है। वहाँ जसे लेखक म अपने प्रति तटस्थता नही है। वहा लखक मानो पाठक स प्रत्याशा रखता है कि जिस मैं सही समझता हूँ उसे तुम भी सही समझो जिसे गलत कहता हूँ उसे गलत।

वहां लेखक दर्शक ही नहीं प्रदर्शक भी है। वहां भावना से आगे बढ़कर वासना भी आ जाती है। यों वासना किसिम नहीं होती, वह मानव का हक है। लेकिन लेखक का अपनी कृति में वासनाहीनता का ही नाता खरा नाता है। वही आर्टिस्टिक है। जवाहरलाल की कृति मे वह आ गया है जो इनार्टिस्टिक है असुन्दर है। आधुनिक राजनीति (या कहो कांग्रेस राजनीति) में जिस समय से अधिकारपूर्वक वह प्रवेश करते हैं उसी समय से अपने जीवन के पर्यवेक्षण में लेखक जवाहरलाल उतने निस्संग नहीं दीखते।

आत्म चरित्र लिखना एक प्रकार से आत्म-दान का ही रूप है। नहीं तो मुख्य किसी के जीवन की घटनाओं को जानने अथवा अपने जीवन की घटनाओं को जतलाने से क्या फायदा ? परिस्थितियां सब की अलग होती हैं। इससे घटनाएँ भी सबके जीवन में एक-सी नहीं घट सकती। लेकिन फिर भी फायदा है। वह फायदा यह है कि दूसरे के जीवन में हम अपने जीवन की भाकी लेते हैं। जीवन तत्त्व सब जगह एक है और हर एक जिन्दगी में वह है जो हम लाभ दे सके। वस्तुत जीवन एक लीला है। सबका पार्ट अलग अलग है, फिर भी, एक का दूसरे से नाता है। लेकिन, यदि एक दूसरे से कुछ पा सकता है तो वह उसका आत्मानुभव ही अहंता नहीं।

इस भांति आत्म चरित अपनी अनुभूतियों का समर्पण है। जवाहरलाल जी का आत्म चरित सम्पूर्णत वही नहीं है। उसमें समर्पण के साथ आरोप भी हैं आग्रह भी हैं। लेखक की अपनी अनुभूतियां ही नहीं दी गई हैं—अपने अभिमत, विधि निषेध अपने मत विश्वास भी दिये गये हैं और इस भांति दिये गये हैं कि वे स्वयं इतने सामने आ जाते हैं कि लेखक का व्यक्तित्व पीछे रह जाता है।

यहां क्या एक बात मैं कहूं ? ऐसा लगता है कि विधाता ने जवाहरलाल में प्राणों की जितनी श्रेष्ठ पूंजी रखी है उसके अनुकूल परिस्थितियां देने की कृपा उसने उनके प्रति नहीं की। परिस्थितियों की जो सुविधा जन-सामान्य को मिलती है उससे जवाहरलाल को वंचित रखा गया है। जवाहरलाल जी को वाजिब शिकायत हो सकती है कि उन्हें ऊँचे घराने और सब सुख सुविधाओं के बीच क्यों पैदा किया गया ? इस दुर्भाग्य के लिये जवाहरलाल सचमुच रुष्ट हो सकते हैं, और कोई उन्हें दोष नहीं दे सकता। इस सुख और-बद-नसीबी का परिणाम आज भी उनके व्यक्तित्व में से घुलकर साफ नहीं हो सका है।

वह हठीने समाजवादी हैं—इतने राजनीतिक हैं कि बिलकुल दहाती नहीं हैं।—मा क्या ? इसीलिए तो नहीं कि अपनी सम्पन्नता और कुलीनता के विरुद्ध उनके मन में चुनौती भरी रहती है ? वह व्यक्तित्व में उनके हल नहीं हो सकी है, फूटती रहती है और उन्हें बेचैन रखती है।

बीस से चौबीस वर्ष तक की अवस्था का युवक सामान्यतया अपने को दुनिया के आमने-सामने पाता है। उसे झगड़ना पड़ता है तब जीना उसके लिए सम्भव होता है। दुनिया उसकी उपेक्षा देता है और उसकी टक्कर से उस युवा में आत्म जागति उत्पन्न होती है। चाहे तो वह युवक इस संघर्ष में डूब सकता है, चाहे चमक सकता है।

इतिहास के महापुरुषों में एक भी उदाहरण ऐसा नहीं है जहाँ विधाता ने उन्हें ऐसे जीवन-संघर्ष का और विपत्तियों का दान देने में अपनी ओर से कंजूसी की हो। पर मैं क्या आज विधाता से पूछ सकता हूँ कि जवाहरलाल की आत्मा देकर जवाहरलाल की किस भूल के दंड में उसने लाड़ प्यार और प्रशंसा स्वीकृति के वातावरण में पनपने को लाचार किया ? मैं कहता हूँ विधना ने यह छल किया।

परिणाम शायद यह है कि जवाहरलाल पूरी तरह स्वयं नहीं हो सके। वह इतने व्यक्तित्व नहीं हो सके कि व्यक्ति रहें ही नहीं। क्योंकी उनको नहीं पता चलता वहीं उसको खोजते हैं। शास्त्रीय ज्ञान की टेक्न उनकी टेक्न है—हाँ शास्त्र आधुनिक है। (पुस्तक में कितने और कम कमाल के रेफरेंस और उदाहरण हैं!) शास्त्र उनके मस्तक में है दिल में नहीं। दिल में शास्त्र का सार ही पहुँचता है बाकी छूट जाता है। इसी से अनजान में वह शास्त्र के प्रति अवमानशील हो जाते हैं। एक इज्म का सहारा लेते हैं दूसरे इज्मों पर प्रहार करते हैं। सच यह कि वह पूरे जवाहरलाल नहीं हो सके हैं तभी एक 'इस्ट (सोशलिस्ट) हैं और ध्यान रहे वह पैतृक इज्म नहीं है।

चूँकि उन समस्याओं से उन्हें सामना नहीं करना पड़ा जो आए दिन की आदमी की बहुत करीब की समस्याएँ हैं इसी से उनके मन में जीवन समस्याओं के अतिरिक्त और अलग तरह की बौद्धिक समस्याएँ घिर आई।

आदमी का मन और बुद्धि खाली नहीं रहते। सचमुच की उन्हें उलझन नहीं है तो वह कुछ उलझन बना लेते हैं। जीवन समस्या नहीं तो बुद्धि समस्या को व

बौद्धिक रूप दे देते हैं। क्या यह इसी से है कि उनकी बौद्धिक चिन्ता रोटी और कपड़े के राजनीतिक प्रोग्राम से ज्यादा उलझी रहती है—क्योंकि रोटी और कपड़े की समस्या के साथ उनका रोमांस का सम्बन्ध है।

स्थूल अभाव का जीवन उनके लिए रोमांस है। क्या इसलिए ऐसा है कि उनका व्यावहारिक जीवन जब कि देहाती नहीं है, तब बुद्धि उसी देहात के स्थूल जीवन की ओर लगी रहती है? और लोग तो चलते धरती पर हैं कल्पना आसमानी करते हैं। जवाहरलाल जी के साथ ही यह नियम नहीं है। क्या हम विधाता से पूछ सकते हैं कि यह विषमता क्यों है?

जवाहरलाल जी को देखकर मन प्रशंसा से भर जाता है। पुस्तक पढ़कर भी मन कुछ सहमे बिना न रहा। जब उस चेहरे पर झल्लाहट देखता हूँ जानता हूँ कि इसके पीछे-ही पीछे मुस्कराहट आ रही है।

पर उनका मुस्कराता चेहरा देखकर भय सा होता है कि अगली ही घड़ी कहीं कहीं झींकना तो नहीं पड़ेगा!

पुस्तक में इसी रईस और कुलीन, लेकिन मिलनसार, वदना में भीनी खुली और साफ तबियत की झलक मिलती है। मन का खोट कहीं नहीं है पर मिजाज जगह-जगह है।

निकट भूत और वर्तमान जीवन के प्रति असलग्नता पुस्तक में प्रमाणित नहीं हुई है फिर भी एक विशेष प्रकार की हृदय की सच्चाई यहाँ से वहाँ तक व्याप्त है।

पुस्तक में अन्त की ओर खासे लम्बे विवेचन और विवाद हैं। हमारे अधिकतर विवाद शब्दों का झमेला होते हैं। जब तक मतियाँ भिन्न हैं तब-तब एक शब्द का अर्थ एक हो ही नहीं सकता। सजीव शब्द अनेकार्थवाची हुए बिना जियेगा कैसे? यह न हो तो वह शब्द सजीव कैसा? पर जवाहरलाल जी इसी कथन पर उतारू हो सकते हैं। उन्होंने एक लेख में लिख भी दिया था कि एक शब्द दिमाग पर एक तस्वीर छोड़ता है और उसे एक और स्पष्ट अर्थ का वाची होना चाहिए आदि-आदि। पर वह बात उनकी अपनी अनुभूत नहीं हो सकती। सुनने में भी वह किताबी है। इसलिए उन विद्वत्तापूर्ण किए गए विवादों को हम छोड़ दें। यह अपनी-अपनी समझ का प्रश्न है। कोई आवश्यकता नहीं कि कहा जाए जवाहरलाल गलत हैं—चाहे वह यही कहें कि वह और वही सही हैं।

जवाहरलाल जी आज भी भारत की राजनीति म जीवित शक्ति हैं। उनके विश्वास गेरावद्ध हा पर वे गहरे हैं। कहने को मुझे यही हो सकता है कि रगावद्ध होने स उनकी शक्ति बढती नही घटती है और स्वरूप साफ नही सिफ सग्त हाता है। उस पर वह कम-तत्पर भी ह। विमेद उनके राजनीतिक कम की भिन्ना है। वे ज म स ब्राह्मण वग से क्षत्रिय हैं। पर मन उनका अत्य त मानवीय है। सूर्योदय की वेला के प्रभात म भी उ हें प्रीति है। पशु पक्षिया म, वनस्पतियों म प्रकृति म तारा स चमक जाने वाली अँधेरी उजली राता म भविष्य म, इस अनेय और अजय गक्ति म जो है और नहीं भी है—इन सब म भी जवाहरलाल जा का मन प्रीति और रस लेता है। उस मन म मत और रुचि की जिद हो पर जिज्ञासा भी गहरी भरी है। वही जिज्ञासा से भीना स्नेह का रस जब तनिक-तनिक अविश्वस्त उनकी मुस्कराहट म फूटता है तब आग्रह भी उसम नहाकर स्निग्ध हा जाता है। वह नेता हैं और चाहे पार्टी राजनीतिक भी हो पर यह सब तो बाहरी और ऊपरी बातें हैं। जवाहरलाल जी का असली मूल्य तो इसम है कि वह तत्पर और जाग्रत व्यक्ति हैं। उस निमम तत्परता और जिज्ञासु जागृति की छाप पुस्तक म है और इसी से पुस्तक सु दर और स्थायी साहित्य की गणना म रह जायगी।

[दो]

जवाहरलाल जी से कौन अनजान है। कुछ भी उ होने अपने पास नही रोका। समय को भी अपन म नही रोका। अपना सब कुछ वह देते ही चल गए हैं। इस प्रकार उनके सम्ब ध सब ओर फले हैं। पर उन असख्य मानव सम्ब धा के विस्तार म ही वह सीमित नही हैं। सब उ हें जानते है फिर भी सभी को विस्मय है कि क्या व उ हें जानत है? कारण धरती पर वह जितने हैं उससे अधिक हवा म हैं। इस हवाई चीज को पकडना आसान नही। मालूम होता है कि वह जहा और जो हैं वही और उतने ही नही है उसस परे और आगे भी हैं। मानव सम्ब धा म उ हें पूरी तरह समझा या पकडा नही जा सकता है उनके पार आदर्शों का जो लोक है, जवाहरलाल वहाँ से भी तोडकर अपने को एक क्षण अलग नहीं कर पात हैं। इस तरह बहुता को वह बहुत जल्दी नाराज और निराश कर दत हैं। लेकिन अगले क्षण ही नाराजी दूर हो जाती है, निराशा उड जाती है क्याकि जवाहरलाल की मुस्कराहट उ हें बता देती है कि वह व्यक्ति नही बालक

है। बालक में स्वार्थ गाँठ नहीं बन पाता, सब कुछ उसमें हरा और लहराया रहता है। आँख उसकी साफ और तबीयत सदा ताजा रहती है। बालक करता नहीं उससे होता है। अपनी त्रुटियों और खूबियों के लिए भी मानो पूरी तरह उसे जिम्मेदार नहीं ठहराया जा सकता।

व्यक्ति या तो आत्मा है। लेकिन सशरीर इस जगत् में होकर धीरे धीरे बहुत सामान वह अपने पास जुटा लेता है जो औरों से काटकर उसे अपनी निजता की गाँठ में अलग बाँध दे। तब संघर्ष उसका नियम और अहं रक्षा उसकी चिंता होती है। शरीर के चलाये तब उसे चलाना और उसी की भाषा में जीना होता है। इस तरह जीवन उसके लिए समस्या बनता है और वह जगत की गुत्थी में मानो अपनी ओर से एक उलझन और बढ़ाता है।

जवाहरलाल में यह किनारा नहीं, ऐसा तो नहीं कह सकते। उनके लहू में सम्भ्रान्ति है मसा ■ 'नीला खून' है। वह उनको एक स्पर्धी और प्रतापी व्यक्तित्व प्रदान करता है। वह उनको अलग छांट देता है। पर भीतर से जवाहरलाल इस अपनी विशिष्टता पर प्रसन्न नहीं हैं। यह विशेषता है जो राजनीतिक होने पर भी उन्हें स्मरणीय बनाती है। अधिकांश राजनीतिक विस्तार में रहते हैं, इसलिए तत्काल में उनकी सीमा और वहीं समाप्ति है। भवितव्य में उनकी व्याप्ति नहीं होती। अमरता में वे नहीं उठते। मरकर वे ऐसे मिटते हैं कि किसी की कृतज्ञता में याद शेष नहीं छोड़ जाते। इतिहास उन पर धूल ही बढ़ाता जाता है। उसके भीतर से उन्हें जगाने की चिंता भविष्य को नहीं होती। पर जवाहरलाल को अपनी निज की विशिष्टता अन्दर से प्रिय नहीं यह अमरता के प्रति उनका दावा है। अन्त में यही उनकी समस्या भी है।

वह शक्ति के क्षेत्र में नगण्य नहीं है। वह क्षेत्र आवश्यक रूप में स्वार्थों का क्षेत्र है। शक्ति का मतलब ही है कि सामने तुलने को दूसरी शक्ति है उस शब्द ही में प्रतिद्वन्द्व है। विरोध और विग्रह बिना वह निष्फल है असिद्ध है। विग्रहात्मक विरोध स्वार्थों में ही सम्भव है। ऐसा होकर भी जवाहरलाल किसी स्वार्थ के प्रतिनिधि नहीं हैं। भारत के, भारतीय सत्ता और शासन के प्रतिनिधि हैं फिर भी उसकी अहंता के प्रतिनिधि उन्हें नहीं कहा जा सकता। भारत उनके लिए भूगोल नहीं है वह मानो एक आत्मा है एक आदर्श है एक आवश्यकता है। स्टालिन-ट्रूमेन को मिलने जुलने में जो दिक्कत होती है जवाहरलाल के साथ

उसकी कल्पना भी मुश्किल है। कारण, जवाहरलाल के पास देश की क्या अपनी निज की अहता के लिए भी स्थान नहीं है। वह इसी से है कि शासक के साथ वह मित्र भी हैं, सेवक भी हैं। यों सच पूछिए तो सही ढंग के वह शासक ही नहीं हैं।

आदमी शरीर रखकर चलता है लेकिन कल्पना उस बन्धन से उलटी ही चलती है। शासक कल्पना विहारी नहीं हो सकता। इस तरह शासक अनागत के आवाहन में सदा ही बाधा है। वह स्थिति से बँध जाता है और गति यथा किंचित उससे रुकती ही है। काल गति उसे तोड़कर अपने को सम्पन्न करती है। शासक और कवि में इसलिए मौलिक विरोध है। जवाहरलाल में वह विरोध कम नहीं हो गया है, लेकिन कभी वह अकवि नहीं हैं। कहना मुश्किल है कि वह साहित्यिक अधिक हैं या राजनीतिक। कल्पनाशील नहीं तो वह कुछ भी नहीं। वह कल्पनाशीलता प्रधान मन्त्री नेहरू के लिए भूषण है, दूषण बिलकुल नहीं। यही जवाहरलाल की प्रतिभा का प्रमाण है।

नेता की भिन्न कोटि है। राजा का बेटा राजा होता है और कुरसी आदमी को अफसर बना सकती है। पर नेता शासक से अलग है। नेता उठाता है, शासक दबाता है। जरूरी है कि आत्मा का उभार नायक में अधिक हो शरीर का खिचाव कम। वह निस्पृह हो, बहादुर हो, खरा और बेलाग हो। शरीर से स्वार्थ उपजता है, आत्मा से ही उत्सर्ग। आत्मा मुक्त होकर ही व्यक्ति उठता है। *आत्मवान ही असल अर्थ में विराट बन सकता है। नायक* को इस तरह अलक्ष्य की ओर ही बढ़ना होता है जिसमें सहारा केवल उसकी श्रद्धा है। तब अनुयायी उसका शरीर होता है। आज का पार्टी लीडर पार्टी से अलग और ऊपर जो कुछ रह नहीं जाता इसलिए वह जोड़-तोड़ में रहता है। उसकी खूबी हिसाबी चतुराई की बन आती है। निष्कपटता में उसे खतरा है। शौर्य और पराक्रम उसमें *झलक नहीं सकते। किन्तु जवाहरलाल की* बात और है। दल और पार्टी के नेता होकर भी देश और पार्टी को वह आश्वासन नहीं पहुँचा पा रहे हैं कि वह उनसे घिरे हैं। तभी उनका नेतृत्व उनके लिए चिन्ता का विषय नहीं है बोझ की भाँति आ गया हुआ वह एक दायित्व है जो विनम्र और कुशल तो उन्हें बना सकता है कायर और कुटिल नहीं।

दुनिया को आज की स्थिति में जवाहरलाल से बहुत आशाएँ हैं। गांधी ने एक नई दृष्टि और नई परम्परा जगत को दी। उन्होंने दिखाया कि संसार का

काम ईश्वर की नीति से ही चलेगा और चलाना होगा, सासारिक नीति कोई अलग नहीं हो सकती। आत्मा के अनुसार ही चलने म शरीर का स्वास्थ्य है। इसलिए ससार के भले के लिए सम्राट और राज-नेता नही चाहिए सेवक और शहीद चाहिए। शासक और श्रमिक की खाई झूठी है। शासक बोझ है इसलिए शासक का नाम बदलने, उनकी सख्या कम-अधिक करने और शासन-तन्त्र को इधर या उधर फेरन स असली कुछ लाभ होने जान वाला नही है। आर्थिक कहकर जिस कार्यक्रम के सहारे विश्व म सहयोगी, शान्त और सही व्यवस्था हम लानी है, उसका तथ्य अक और हिसाब मे नही है। मूल की ओर से उसे नतिक और स्वाभावी होना है। उसके लिए सबसे पहले हृदय का परिवतन करना है। स्पर्द्धा की जगह प्राथना से चलना है। सारी सृष्टि को ही बदल डालना है। तब शासन और श्रम दोनो के ही क्रम और काय बदले दिखाई देंग। उनर विकार को दूर करक उन्हें सस्कार दना है नही तो रुग्ण साधनो से नीरोग साध्य नहीं प्राप्त होन वाला है।

गांधी की यह दृष्टि सारे राजनीतिक ससार के लिए चुनौती है। खासकर अब जबकि नसों मे तनाव है शास्त्रास्त्र भीषण वेग से तयार हो रहे हैं और एक-दूसरे को अवारण करने और दापी और दुष्ट प्रमाणित करने की कोशिशें चल रही हैं सक्षेप में जब युद्ध चारों ओर से आ लगा अनुभव होता है, गाधी का माग बचाव का एकमात्र माग रह जाता है। जवाहरलाल के हाथ उस परम्परा का उत्तराधिकार है और उस माग के द्वार की कुजी है। गांधी लँगोटा म और झोपडी म रहत थ जवाहरलाल सूट म और महल म दीखत हैं। गाधी चरखे पर मन रखत थ जवाहरलाल की आँख मशीन और टक्टर पर है। यह अन्तर है और जवाहरलाल को बहुत फासला तय करना है। फिर भी गाधी-वादी से भी ज्यादा, उस परम्परा की रक्षा जवाहरलाल के हाथ है और विलायता को जवाहरलाल से वह चीज मिलनी और ल लनी है। नही तो नही कहा जा सकता कि तीसरा विश्वयुद्ध न होगा या फिर उसी की कडी मे चौथा भी प्रलययुद्ध न आकर रहेगा।

एक बात साफ है। वस्तु की बहुतायत, उसका थोक उत्पादन (Mass Production) सबकी पहली आवश्यकताओं की भरपूर पूर्ति—इस तरफ जवाहरलाल का रुख और जोर है तो खुद वस्तु के मोह के कारण नहीं, बल्कि

खरी मानव-सहानुभूति के कारण। इन्सान से उसे प्यार है और आदमी को भूखा-नंगा देखना वह सह नहीं सकता। भूखे-नंगे को गांधी 'दरिद्रनारायण' कहकर जबकि अपने से उस ऊँचे स्थान पर रखते थे, तब जवाहरलाल उस भावना में उनका साथ नहीं दे पाते। इसे उनके स्नायुओं की विवशता कह लीजिए। लेकिन अगर वह कपड़े से और रहन सहन से शालीन रहते हैं तो इसलिए कि वह नहीं चाहते कि कोई एक घड़ी भी अपना भूखा-नंगापन बर्दास्त करे। गांधी जिसे मर्दिर में बिठाते हैं उसका अपने ड्राइंगरूम में कदम रखना भी जवाहरलाल बर्दाश्त नहीं कर सकते। इस ऊपरी विरोधाभास के नीचे दर्द की थोड़ी-बहुत आन्तरिक एकता भी नहीं देख सकते तो हम खुली आँखों अंधे ही ठहरेंगे। अगर जवाहरलाल आदर्श और नीति से भटकते भी हैं तो वह दर्द ही उन्हें भटकाता है। उस दर्द से बढ़कर भी क्या कोई आदर्श है? कोई नीति है? जवाहरलाल इसी मूल प्राण-प्रेरणा के कारण गांधीवादियों से अधिक गांधी परम्परा के उत्तराधिकारी हैं।

जिस पर इस तरह हम विस्मय हो सकता है उसी पर हम तरस भी खा सकते हैं। भयंकर विरोधाभास जवाहरलाल में आ जुड़े हैं। व्यक्तित्व जो जितना समृद्ध और सम्पन्न होगा उतना ही विरोधाभासों का क्रीड़ा-क्षेत्र होगा। समन्वय, समत्व और एकत्व जहां परिपूर्ण होते हैं वह तो हैं भगवान्। गुण सब वहीं से होकर भी वह स्वयं निर्गुण हैं। साकार सब-कुछ उन निराकार में से है। पर जवाहरलाल के प्रति गहरी करुणा होती है जब देखते हैं कि इतने तीव्र विरोधों को भीतर रख कर भी उसे उन भगवान की उपासना प्राप्त नहीं है जो समस्त विरोधों के निर्विरोध आदि हैं और सब अशान्तियों के लिए चरम शान्ति हैं।

जवाहरलाल अतः समाधान नहीं हैं जो कदाचित ईश्वरोन्मुखता है। वह सतत प्रश्न हैं जो शायद इह जीवन है। वह एक गम्भीर और गहन ट्रेजेडी है। महान जो भी है ट्रेजिक है। जवाहरलाल में महत्ता है और यही ट्रेजेडी है। यदि केवल वह व्यस्त न रहते बल्कि आगे बढ़कर अपने में से नोचकर एकाध पल की फुरसत वह छीन लेते, और फुरसत में सचमुच शून्य होने अर्थात् स्वयं न होने की कृतार्थता पा सकते तो? तो—?

पर यह 'तो'? तो ठाली कल्पना है। जवाहरलाल को गांधी देखने की दावा करने की अदया कैसे की जा सकती है। हम कैसे चाह सकते हैं कि अन्तर्व्यथा किसी में बढ़े। लेकिन अगर उनका मस्तिष्क जो पश्चिम की शिक्षा से खूब सध

गया है कम सधा होता और आरम्भिक सहानुभूति को बीच म लपककर उसे बौद्धिक योजनाओं का रूप देने मे इतना अभ्यस्त न होता तो क्या सचमुच ही वह सहानुभूति उनके समूचे व्यक्तित्व को जलाकर आज आग न बना देती कि जिस पर न कपना टिकता न पद, न महत्त्व और न बडे-बडे नक्शे बल्कि अपने समूचेपन म वह आँसू और आग की एक कविता बन जाता!

भारत क वह हैं और कहा कुछ करें जमवाला िन उनका भारत के ही माग्य म रहने वाला है। आज तो दुनिया विग्रह पर खडी है और एक को जो उजला है वही उस कारण दूसरे को काला दीखता है। क्या हम कह कि नेहरू अमरीका जीत कर आए हैं? कहिए, पर तभी उधर दूसरा कहेगा कि अमरीका म वह बिक आए हैं। दोनों ही राष्ट्रगत स्वार्थों की माया है। किन्तु भारत की भारतीयता कोरी राष्ट्रीयता नहीं है, राष्ट्रवाद मे भारत की आत्मा नही है। कुछ को शिकायत रही कि भारत के इतिहास में राष्ट्र का उदय नही हुआ। इतिहास की जगह वहा पुराण हुए, जिनम साहित्य हो विज्ञान नही है। जो हो, भारत की आत्मायना खण्ड के गर्व म नही उपनी, अखण्ड की पूजा म ही उसने अपनी लगन रखी। विश्व की और मानव-जाति की वह अखण्डता आज बीसवीं सदी म तथ्य की और योजना की बात हो आई है। भारत न तो सदा निष्ठा रखी कि वह अखण्ड ही सत्य था और है लेकिन समझवादियों ने उसे ही स्वप्न कहा। आज यद्यपि विश्व अखण्ड होकर समान है फिर राष्ट्र अपने उत्कट राष्ट्रवाद से चहके हुए हैं। व शान्ति चाहते है पर औरा के सिर चढकर। क्या अब तक इसी वृत्ति म से युद्ध नहीं निकलते रहे हैं? अपने को महत्त्व देने का यह आग्रह तो सदा का नियम है। किन्तु दूसरा को महत्त्व देकर चलने का नियम सिर्फ एक भारत म पनपा है। वही अहिंसा का नियम है, जिसे गाधी ने फिर से स्वय भारत को और उसके द्वारा जगत् को दिया। भारत म चक्रवर्ती भी हुए जिन्होंने आक्रान्ताओं को झेला और परास्त किया और दस के माथे को ऊचा रखा। फिर भी भारत के आत्म शौय का प्रताप ज्वलन्त होता है राम-कृष्ण म बुद्ध महावीर म, शकर चैतन्य म। और हाल म गांधी वही है जो उस परपरा का पूरक है। भारत म बाहुबल को कभी इतना बढ चढने नही दिया गया कि वह दूसरे के लिए सभय और भीति का कारण हो। सदा ही वह आत्मबल का और मानवजाति के ऐक्य का प्रतिष्ठाता रहा है।

जवाहरलाल पश्चिम को उसी विश्व की अखण्डता का दिग्दर्शन कराते हुए

अमरीका से आ रहे हैं। अमरीकी महत्ता को उनसे उत्तेजन और अभिनन्दन नहीं मिला है। महत्त्वाकांक्षा का नहीं, बल्कि पश्चिम की दायित्व भावना को उन्होंने उभारा है। भारत के योग्य उत्तराधिकारी के अनुरूप ही उनका यह काम हुआ है। सत्ता के प्रतिनिधि तो वह थे और इस हैसियत से तदुपयुक्त शिष्टाचार और सदाचार का उन्होंने ध्यान रखा है, पर भारत के सच्चे सार्वकालिक संदेश का प्रतिनिधित्व भी उन्होंने वहां किया है।

आगामी विश्व में वस्तु से व्यक्ति का महत्त्व निश्चय ही अधिक होने वाला है। तब विश्व का केंद्र पश्चिम नहीं पूर्व होगा, क्योंकि इन्सान ज्यादा यहीं बसता है। एशिया सिर्फ खपत की मण्डी है उस समय तक जब तक कि मशीन पर हमारा आधार है। पर आधार जब स्वयं मनुष्य होगा तब एशिया अनायास विश्व को शक्ति शांति और व्यवस्था देने वाला भूखण्ड हो जायगा। अंडर डेवेलप्ड (Under Developed) जो वस्तु की ओर से है वह आत्मा की ओर से भी अविकसित है यह मानकर चलना यूरोप व अमरीका के लिए भयंकर खतरे की बात होगी। जवाहरलाल ने यह चेतावनी पूरे और सही अर्थों में उन मुल्कों को मिली है। जिनको नहीं मिली, हम आशा करनी चाहिए कि काल-संकेत से वे भी जगेंगे और अधिक गफलत में नहीं रहेंगे। □

महात्मा गाँधी



सन १६३० म नमक-सत्याग्रह हुआ। और उसम जेल जाना हुआ। वहाँ सहमा दखा कि मुझे आस्तिक बनना पड रहा है। यानी मेरी वसी कोई इच्छा नहीं थी। पर एकाएक एसा घिर आया कि ईश्वर से बचने की राह ही कहो न रह गइ। यह अप्रत्याशित था, पर अनिवाय भी बन आया। किन्तु ईश्वर विश्वास के आने क साथ ही युगपत् प्रतीत हुआ कि पुनजन्म का विश्वास मुझे खो देना होगा। या ता ईश्वर मानो या पुनजन्म ही मानो। दोना माथ नही चल सकते। यह देखकर मैं बडी उलझन म पडा। पुनजन्म का विचार भारत की जलवायु म घुला मिला है। यह तो मेरे बस का न हो सका कि ईश्वर के हान स छुट्टी पा सकू पर पुनजन्म को हाथ से जाते देखत भी बडा असमजस होता था। जैसे आधार लुप्त जाता हो।

जेल म रहत ता और चारा न था। बाहर आने पर मथिलीशरण जी स परिचय हुआ। वह डा० भगवानदास क पास ले गए। फिर कहा कि गांधी जी को लिखो। यह बात मेरे मन म भी उठती थी पर मैं फौरन दाब देता था। कह दिया कि नहा गाधी जी का नही लिखूगा कभी नहीं लिखूगा। यह उन पर जुल्म होगा।

और लोगा से भी बात आई। सभी ने सलाह दी कि गाधी जी को लिखना चाहिए। वह ता मुमकिन हो न सकता था, लकिन पुनजन्म को लेकर इन उन के पास काफी भटक लिया।

इसी समय की बात है कि गांधी जी दिल्ली आये हुए थे। मुझे उस नाम से

डर लगता था। जितनी ही उत्कण्ठा होती थी उतनी ही आशका। सम्भव न था कि गांधी जी के पास तक मैं जा सकू। किसी सभा म उन्हें दूर से देखता तो भी जी होता कि अपना मुह छुपाकर दूर हो जाऊं। उ ही दिना शायद गांधी जी से मिलने क लिए दया आई हुई थी। वह कई बरस साबरमती और वर्धा रह चुकी थी और गांधी जी से घुली हुई थी। उसी समय अभयदेव जी भी आए। याद नहीं कि वह तब देव शर्मा ही थे कि अभयदेव बन चुके थे। कागडी गुरुकुल क आचाय अवश्य थे।

वे लाग गांधी जी क पास जाने का उद्यत हुए। मन म मेरे भी था पर मैं मुह न खोल सकता। दया ने कहा 'जीजा जी, चलिए न आप भी चलिए ?"

'मैं ?'

'हां हा चलिए।'

मैं गहरे असमजस मे पडा। साहस जवाब दे रहा था पर उत्सुकता भी अदम्य थी। अभयदेव जी ने भी कहा हां आओ चलो।' अभय पाकर मैं साथ हो लिया।

बिरला हाऊस म पीछे की तरफ बरामदे म गाधी जी बैठे थ। उन्होंने कहा "महादेव, यह दया है। इसे वह खत ला के तो दो जो भेजन वाले थे।

महादेव भाइ ने बबूल के एक काँटे से टक तीन चार कागज नाकर दया क हाथ मे दे दिए और दया उनको पढ गई। गाधी जी न पूछा पढ लिया ? सब बातो का जवाब आ गया न ?"

'जी हा।'

सबका ?'

जी—

गांधी जी ने दृष्टि हटाई। पर सहसा दया ने कहा एक बात रह गई, बापू।—पुनजन्म ?"

चेहरे की खिलावट लुप्त हो गई। गम्भीरता आ गई। दृष्टि म जस स्नेह नहीं ताडना हो। बोले पुनज म ! यह प्रश्न नही घटता है।

दया घबरा गई। मैं पीछे की तरफ एक ओर नगण्य बना बठा रहा लेकिन मुझे काटो तो खून नहीं।

तुम क या हो। मैं पुरुष हू। और हम दोनो म कोई व्याघ्र नही है सो

क्यों ? इसलिए पुनजन्म है।"

पर जैसे ये शब्द दया ने पूरी तरह भीतर नही लिए। आत्त बनी सी बोली, "मैं नहीं बापू ये जीजा जी।"

गाधी जी की आखें मेरी ओर उठी। मैंने उसी क्षण मर जाना चाहा। सिटपिटाकर बोला, 'मैं मुझे नही मालूम था। मैंने नही कहा। इसने दया ने या ही लिख दिया। मैं कभी लिखने वाला नही था। लेकिन अब क्या कहूँ ? बैठे ठाले की उत्सुकता यह नही है, बापू। लगता है मैं रुक गया हू, सब अटक गया है। दिमाग काम ही नही करता। यह उलझन जैसे मेरे साथ मूल की बन गई है। यह कटे तब आगे कुछ बने। लेकिन दया बडी खराब है। इसने आपको नाहक लिख दिया ■

गाधी जी बोले 'अच्छा जो मने कहा कसा लगता है।'

मने कहा 'उससे सन्तोष तो नही होता।'

बोले, 'जो कहूगा उसका क्या करोग ?"

सभलकर कहा, श्रद्धा से लूगा, यत्न करूगा, बुद्धि विवक से भी अपना सकू।'

'आह मानो कुछ चैन मानत हुए बोलें, "तब तो खुलासा पत्र मे लिखना।"

इस धष्टता का आप क्षमा कर सकेंगे।"

हा सो क्षमा तो मुझे माग लेनी चाहिए क्योंकि हो सकता है कि जवाब आने म कुछ दर भी हो जाय।'

यह गाँधी जी मे पहली मुलाकात थी। उसकी छाप थाय धुलती नही। वह स्निग्ध लग, पर कठिन। उनकी जिरह भेलना कितना दुवह था। घर आकर दया को आड़ हाथो लिया। कहा कि तू बडी वैसी है री।

बोली कि लो अब खत लिख दो।

मन कहा कि हट। भला, इस बेकार सी बात के लिए ■ गाँधी जी को खत लिखने बठगा।

बोली कि लिखओ भी। बात इतनी आगे बढ गई है तो क्या अब वापस मुडना ?

मेरा लिखना हमेशा करीब ऐसी हालना म हुआ है। खत लिख गया और डर गया। फिर एक अरसा गुजर गया और जवाब उसका नहीं आया। चलो छुट्टी हुई।

[दो]

उसके बाद तब की बात है जब गांधी जी ने समग्र ग्राम-सेवा का विचार किया रचनात्मक काम कई तरह का था और उनमें आपस में फासला भी समझ लिया जाता था। संगठन तो उनके अलग थे ही, पर जैसे वे काम भी इतने अलग थे कि कोई एक भावना और एक प्रयोजन उन्हें थामे न रखता हो। तब समग्र सेवा को उन्होंने बल दिया और संगठनों को विकेन्द्रित करना चाहा।

वह विचार मुझे पसन्द आया। इच्छा हुई कि क्यों न मैं उसमें अपने को झोंक दूं, पर तब कुछ शंकाएं थीं और मैंने गांधी जी को पत्र लिखा। वह पत्र सीधा सादा काम काजी था। पुनर्जन्म की या पहली मुलाकात की हवा भी उसे न छू गई थी। उत्तर आया कि अमुक तारीख को पहुंच रहा हूं। हरिजन-बस्ती में मिलना।

गांधी जी आये तो कब उन्हें भीड़ से छुट्टी थी। सब तरह के खास-खास लोग उन्हें घेरे थे और व्यूह तोड़ा न जा सकता था। फिर मेरे जैसा पस्त हिम्मत आदमी। मैंने एक दो गण्यमान्य की सहायता चाही पर उद्धार कोई क्या कर सकता था? आरम्भ से ही आत्मा का उद्धार होना लिखा है। करीब घण्टा भर किनारे भटकते हो गया तो हताश गांधी जी के पास सीधे पहुंच कर कहा, "बापू, मैं भी हूं यहां, जैनेन्द्र।

बहुतों के बीच घिरे बैठे बापू ने निगाह ऊपर की। नीली सी वे आंखें। हँसकर बोले अरे तो यों कहो कि दया के जीजा जी। पर आज क्या है सोम। बात परसों बुध को होगी ?? बजे। होगा न सुभीता?

मैंने कहा जी।

और सब राजी?"

जी।'

देखा उनकी निगाह फिर नीचे यथावत हो गई और वह प्रस्तुत दूसरी व्यस्तताओं में दत्तचित हो गए। मुश्किल से डेढ़ मिनट लगा होगा पर इससे गांधी जी के काम में विघ्न नहीं आया व्यवधान नहीं पड़ा जबकि मेरा प्राप्य मुझे पूरा मिल गया। लौटा तो चित्त में प्रसन्नता थी। इस एक मिनट की स्वीकृति में मैंने पाया कि मैं समूचा स्वीकृत हो चुका हूँ।

कहा है कर्म सुकौशल योग है। बिना योग के ऐसा कर्म-कौशल सध नहीं

सकता। इंद्रियाँ पूरी जगी चाहियें पर उतनी ही वशीभूत। व्यक्ति को हर-क्षण ऐसा होना चाहिए कि वह एक में हो, तो और सब में भी हो। एकाग्र पर सर्वोन्मुख।

गाँधी जी को मन में साथ लिये लिये घर आया। विलक्षण अनुभव था। पहला साक्षात्कार अत्यन्त साधारण था, और अत्यन्त अल्प फिर उस पर से बरस के बरस वह गये थे। पर देखा कि गाँधी के साथ कुछ बुझता नहीं है, चुकता नहीं है, प्रस्तुत और ताज़ा बना रहता है, ऐसे क्षण अमिट बनता है। क्या यही साधना है जिससे पुरुष काल-पुरुष बनता, व्यक्ति विराट् होता और एक अखिल हो जाता है?

जान पड़ा जैसे वैयक्तिक और निर्वैयक्तिक के बीच सीमा का लोप हो गया है। निश्चय है कि मुझ से निगाह हटते ही मैं उनके लिये न रह गया था पर निगाह में जब तक था तब तक मानो मैं ही सब कुछ था और उनकी निजता मुझसे अलग न थी।

बुधवार को दो बजे पहुँचा और बातचीत की। बातचीत में अपने मन की शंका रखी। कहा कि सेवा तो ठीक पर किस बल पर वह सेवा हो? रहता यहाँ हूँ, जीविका मेरी चली आए एक पाँच सौ मील दूर से आने वाले मनीआर्डर के रूप में तो क्या यह सहज है कि जहाँ [illegible] वहाँ लोगों से मेरा हितैक्य और आत्मैक्य बन जाय? गाँव का सेवक उद्धारक ही तो कैसे चलेगा? उसे क्या जीविका के लिए भी वहीं निर्भर नहीं करना चाहिये?

गाँधी जी सुनते रहे, सुनते रहे बोले "क्या चाहते हो?"

कहा, "गाँव में बैठूं तो यह चाहता हूँ कि उनके दुःख सुख का भागी बनूं उस कक्षा का होकर। कोई बाहर से आई अर्थवृत्ति मेरा पोषण न करे।"

हँस बोले "यह उत्तम है।"

दूसरी शंका यह थी कि राज-कारण को जीवन से अलग रखने का वचन कैसे लिया जा सकता है? उस समय समग्र ग्राम-सेवकों से गाँधी जी यही चाहते थे। मैंने कहा कि राजनीति ओढ़ी हुई हो तो उतार भी दी जा सकती है पर विश्वासों और विचारों की अभिव्यक्ति वह हो तो उसे अलग रखना कैसे बनेगा?

गाँधी जी ने मुझे कुतूहल से देखा और कहा, "ठीक है।"

बात पाँच-सात मिनट में खत्म हो गई। देखा कि बोलना मैं ही रहा हूँ, उनकी

ओर से एक आध वाक्य ही आया है, मुझे यह न जाने कैसा लगा। सोचता था कि मुझे खींचा जाएगा, जीता जाएगा। स्पष्ट था कि वह ग्राम-सेवकों की एक बड़ी संख्या चाहते थे उनकी भर्ती भी हो रही थी। मैं एक खासा उम्मीदवार समझा जा सकता था पर मुझ भर्ती में लेने की तनिक आतुरता उधर से नहीं आई, प्रतीत हुआ कि मेरा अपना ही समर्थन आया है। इस प्रकार कुछ ही देर में मैंने अपने को वहाँ समाप्त और अनावश्यक अनुभव किया। लेकिन भीतर से अपने को समर्थित और प्रसन्न पाया।

मैं इस भेंट से वापिस आते हुए सोचता रह गया कि यह क्या हुआ, क्या परिणाम आया। काम-काज की भाषा में फल निष्फल था। पर भीतर देखा कि बात ऐसी नहीं थी। मैं प्रभावित था और प्रसन्न जैसे भीतर कुछ फल रहा हो, मैं प्रशस्त हो आ रहा हूँ।

चलते वक्त गांधी जी ने दया की बात की थी और दया की बहिन की और भी इसी तरह की निष्प्रयोजन कुछ बात हो गई थी। उसने मुझको मानो हलका और भरपूर बना दिया था।

यह भेंट प्राप्ति के अर्थ में शून्य रही। आशा थी कि मैं सेवकों की श्रेणी में आ जाऊँगा, वह कुछ न हुआ। गांधी जी ने अपनी ओर से उसकी कोई चेष्टा नहीं की। गांधी जी की यह विशेषता गांधी जी की अपनी ही थी। वह अनुयायी नहीं चाहते थे, उनकी पाँत बढाना नहीं चाहते थे न दल चाहते थे। सबको स्वयं रहने देने में मदद देना चाहते थे कि बस भीतर से उसको बढ़ावा पहुँच जाय। शायद व्यक्तित्व के निर्माण की यही कला है और यह उन्हें सिद्ध थी। पर यह आसान नहीं है। इसमें अपने को अपने से छोड़कर रहना होता है। अपने को होम सके वह ही इसे साध सकता है।

उनके प्रभाव का तब जैसे मूल हाथ आया। जैसे वे किसी को शर्त के साथ नहीं लेते, बल्कि जैसा-का-तैसा लेने को तत्पर हैं। जो हो उसी रूप में तुम्हारा वहाँ सत्कार और स्वागत है। यह निर्ममता निस्पृह निस्स्व असाम्प्रदायिकता उनकी शक्ति थी।

मैंने पूछा था कि मेरा मन और मत देखते क्या उनकी सलाह है कि मैं बाकायदा सेवकों की श्रेणी में आऊँ?

उनकी सलाह नहीं थी, पर चाहते थे कि मैं अपने साथ समय लूँ और स्वयं

नेणय पर पहुँचू। इसमे तीसरी भेंट भी हुई। सोच समझकर मैंने कह दिया कि मैं बेकार हूँ।

हँसकर बापू ने कहा कि तुम इसम अनेको के साथ हो।

इसी भेंट में मैंन याद दिलाई कि बापू पुनज म के सबध की शका वाल मेरे पत्र का उत्तर मुझे नही मिला।

'नहीं मिला ?"

'नहीं।'

'कितना बडा था ?"

"आठ दस पष्ठ रहे होगे।'

'ओह तब तो हो सक्ता है हो मक्ता है रोक लिया हो। मेरे पास वाले लाग हैं" कहकर वह हसे।

मैं किंचित निरुत्साह होने को हूँ कि बोले, 'कापी है ?"

मैंन कहा, 'है।

तो एसा करना कि फिर लिखकर भेज देना। अब उत्तर मिलेगा।'

'वक्त आप पा सकेंगे ?'

"यही तो सवाल है। पर पाना हागा भई, कहकर फिर ठठाकर हँस।'

यही गाँधी अविजय है। काटते हैं, पर भर भी देत है। समझ नही आता कि ऐसे आन्मी के साथ क्या किया जाए। मालूम होता है उसकी राह रुक नहीं सकती। मानो वह हम सबम से अपनी राह बना ले सकता है। सब उसके मित्र हैं। अवरोध भी जसे उसके लिए सहायता है।

कहने की आवश्यकता नही कि मैंने कापी से नक्ल करके पत्र उन्हें भेजा और अगरचे समय लगा पर उनका उत्तर आया। तिस पर भी लिखा और तीसरा उत्तर आया। उसके बाद लिखने को शका शेष न रही, आवश्यकता ही जैसे नि शेष हो गई।

यह अनुभव भी अजब है। आज भी नही कह सकता हूँ कि सन १९३० की मन का स्थिति भीतर से लुप्त हो गई है। जन्मान्तर के सम्ब ध म मन की लगभग वही स्थिति है सिफ इतना हुआ है कि वह अब धुतरती नहीं है। गांधी जी के उत्तरो की यही खूबी है। मानो वे शान्ति देते है खण्डन नही करत, प्रतिपादन नहीं करत, श्रद्धा म हठात हो पडे छिद्र को बस मूद लेते हैं। सकल्प ही आदमी

का बल है। वह बल संशय या शंका की राह से बूंद-बूंद आदमी में से रिसता रहता है। ऐसे वह छूछा रह जाता है और किसी ओर गति नहीं कर पाता। प्रश्न में तो जिज्ञासा है, अभीप्सा है। उससे आदमी बढ़ता और ऊपर को उठता है। किन्तु वही जब संशय बन जाय तब वह खाने लगता है। गांधी जी के साथ का मुझे यही अनुभव है कि उनकी वाणी जब कि प्रश्न को मन्द नहीं करती थी तब शंका को अवश्य बन्द कर देती थी। और इस प्रकार व्यक्ति उनके उत्तर को लेकर अपने में अधिक संयुक्त और संकल्प में दृढ़ ही बनता था। मतवादी के पास वह गुण नहीं हो पाता, न विचारवान के पास। यह विशेषता चिद्‌पुरुष के पास ही हो सकती है जो मत—और विचार की ओर से अपरिग्रही है। बस अनुभूतिशील चैतन्य इससे भरा है। ऐसे लोग भारी नहीं होते दुरूह और दुर्गम भी नहीं लगते। वे उद्यत प्रस्तुत प्रसन्न और सदा ताज़ा दीखते हैं।

[तीन]

मैंने कहा, बापू, एक अनुमति चाहता हूं।

बापू ने ऊपर आंख उठाई और मुझे देखा।

'यह चाहता हूँ कि आपके इस कमरे में दो रोज़ को मेरे लिए रोक टोक न हो। कुछ मुझे बात करना नहीं है। सिर्फ रहना और देखना चाहता हूँ। आपका कुछ हरज होता देखूंगा—कोई प्राइवेट बातचीत।"

प्राइवेट—मेरे पास नहीं है। सब खुला है'—कहकर वह हंसे। 'यह प्राइवट मानो कि बाथरूम जाता हूं तो लोग कुछ अपने साथ बातचीत को प्राइवट मानना चाहते हों तो बात दूसरी और वह तुम समझ ही लोगे।'

इस तरह दो रोज़ बेखटके मैं उनके कमरे में रहा किया और आया-जाया किया। देखा कि उनका हर क्षण एक अनुभव था जो सदा जागृत। सोते भी सोते न हों भीतर जग ही रहते हों। ऐसा नहीं लगता था जैसे कुछ कर्त्तव्य निष्ठा के साथ होता है कि वे अनिश्चित कसे चुस्त और चौकसी पर हों। तपस्वी का रूप मुझे उनमें नहीं दीखा। या होगा तो आगे से मिला होगा। अर्थात् हर क्षण मैंने उन्हें हार्दिक पाया। काम और आराम—ऐसे दो खाने नहीं देखे। कर्त्तव्य-कर्म मानो उन्हें सहज कर्म भी हो। यह स्थिति अत्यन्त विरल है, पर गांधी जी का शरीर यन्त्र जैसे इतना सधा था कि क्या कहा जाय। चारों ओर की परिस्थिति चाहने के साथ मानो उन्हें शून्य हो जाती थी। चाहने पर कोई उपस्थिति यहाँ

तक की भीड भी उन्हें उनकी एकाग्रता से च्युत नहीं कर सकती थी। जस वे लिखते हों और कदाचित कितने भी आदमी पास आ बठें तो व लोग अनुभव किए बिना न रहेंगे कि वहा वे नहीं हैं।

आइ एक महिला। भारत के लिए नई मालूम होती थी। मालूम हुआ—प्रतीक्षा करती रही हैं। आइ तो जस प्रीति प्रसन्नता और भय से काप रही थी। गांधी जी ने कहा, "आओ, आओ तुम पर तो रग है। सब ठीक ? खत मिला था ?'

महिला से सहज उत्तर न बन रहा था। वह इतनी विह्वल और आवग म थीं। जसे-जस जताया कि पत्र तो नहीं मिला।

जसे दुघट घटा हो। गाधी जी बोले, 'लेकिन वह तो प्रम पत्र था। यह न समझना, मैं बुड्ढा [redacted]।'

महिला का बन्न आग्क्त हो रहा। उन्होंने कुछ शब्द कहे। शब्द व क्या थे शुद्ध आह्लाद का सकोच था।

सचमुच वह प्रेम-पत्री थी। लम्बी कई सफे की चिटठी थी 'अब हिन्दुस्तान म हो। तो यहा सेवा करोगी—"

मैं यहाँ की भाषा तो नहीं जानती।'

"यह तो और अच्छा है। मुह आप ही बन्द रहेगा। जस झाड़ू लगा रही हो। किसी ने तुम से बात की। तुमने ऐसे दो उँगली मुह के आग रख ली और हाथ हिला दिया। वह समझेगा गूगी है और तुम्हे इससे लाभ होगा। तुम झाडू दिय जाओगी।'

कहने क साथ गांधी जी ने मुह पर उँगलिया रख ली थीं और हाथ हिला दिए थे और बात का अन्त आने तक खिलखिलाकर हँस पड़े थ।

देख सका कि महिला को यह स्वागत बडा ही अनोखा लगा, पर उतना ही प्रीतिकर भी। वह इतनी गदगद् थी कि जैसे वह भाव सारे गात पर छलका आता हो।

सहसा गम्भीर होकर बोल, "हम अन्तिम होंग वहाँ पहले पिछल हो जाएँगे और पिछले पहले तुम्हारी बाइबिल ही है न। यह न समझ लना, मैं उसका पडित हूँ। बस यह सरमन आफ दि माउन्ट जानता हू तो अब भारत म रहोगी ? और वह तुम्हारा धर्म होगा। यहाँ दरिद्र हैं पर दरिद्र म नारायण

बसते हैं।"

बीच-बीच मे महिला ने कुछ-कुछ कहा। शब्द वाक्य मे सही सयुक्त न हो पाते थे। वह इतनी विभोर थी।

तो मेरा प्रेम व्यय नही जायगा। हम दोनो क्राइस्ट की राह पर चलेंगे।"

महिला अपनी नीली भूरी आंखो से गाधी जी को देखा की।

'तो हुआ अब वह कोना है। बैठो तो एकदम चुप बठी रहना। बाकी कल।'

गाधी जी ने कहने के साथ उंगली उठाकर कोना बता दिया और एक-साथ अपने कागजो म डूब रहे।

क्षण म महिला स्तब्ध हो रही। जसे अनहुई हो आई। उठी और बताए कोने म चुप चुपानी जा बठीं। बठी रह रहकर देखती रही इस गांधी को जो प्रेमी बनता है और उसी से शासन करता है।

इन दो दिना क अनक सम्पर्कों म देख सका कि स्नेह कहीं छलकना नहीं कहना नही। वह स्निग्ध है निस्स देह, पर कठोर भी कम नहीं। वह अतिशय दारुण अतिशय निमम भी हैं।

आई साग भाजी की डलिया। उसी सवेरे की ताजा साग-तरकारी। अमुक फाम स आई थी। मीरा बहन ने पास लाकर रखी और गांधी जी क माथ पर तेवर आए। मीरा सकपकाइ।

यह क्या है ?'

देखकर बता दीजिए। और—क्या बनेगा ?'

'सब मुझस पूछा जाएगा ?" गांधी जी ने एस कहा जसे सब अ तिम हो। "सीखा न जायगा ? वक्त फालतू है मेरे पास ?'

कहकर टोकरी को पास खीचा। पालक का पत्ता बीच स मोडा जो हलकी सी चटख टकर टूट आया। दूसरा दूसरे किनारे स लिया और उसी तरह मोडकर देखा। कहा, एसे जो टूट जायँ ठीक हैं। मुड जायँ वे रहने देना। इतना तुम्हे जानना चाहिए। सब्जी के साथ यही पहिचान है और यो ही मरे पास न आ धमका करो ?'

मीरा बहन का जरा मौका न मिला। वह पसीने-पसीने हो गइ। सफाई दी नही जा सकती थी क्याकि ली नहीं जा सकती थी।

यह निमम व्यवहार हाकिमाना न था, पर उससे भी ऊची हकूमत उसमे थी। यह उन दो व्यक्तियो के बीच न था जिनम अन्तर सामाजिक अथवा इतर श्रेणियो क कारण है। कोई निर्वैयक्तिक विवशता उसम न थी और मानो दोनों ओर से पूरी व्यक्तिगत स्वेच्छा से था। वह व्यवहार सम्पूणत प्रेम का था। इसी से सवथा अनुल्लघनीय था और हर प्रकार के ब धन से मुक्त।

[चार]

कहा गया कि डाक्टर तैयार है। जब आपको सुविधा हो। गांधी जी तकिए से सीधे हुए। बोल "सुविधा—अभी है।"

डाक्टर क यहा आते ही गाधी जी कुर्सी पर बैठ गए और डाक्टर तयारी म लगा। तभी मुझ से एक ब धु ने आकर कान मे कहा 'एसा न हो, जने द्र दात डाक्टर के पास ही रह जाय।"

मुझे दिलचस्पी हुई। कहा, 'डॉक्टर उसे रखना ता चाह सकते हैं।"

मित्र फुसफुसाकर बाले, "यही तो लेकिन दात उनक पास जाना नहीं चाहिए।"

बात म मेरा रस बढा। मैंने उ ह निश्चि त किया और स्वय सावधान रहा।

बुढापे के दाँत। क्या विशेष समय लगना या कष्ट हाना था। दात खिचकर आया कि मैं बढा। कहा, 'लाइए धो दू।"

सहज भाव से गाधी जी का वह दाँत मेरे हाथ आ गया। मैंने उसे धोया-पोछा, रूई म रखा और फिर छाटे लिफाफे म एहतियात से डाल जेब म रख लिया।

चौबीस घण्टे तक तो धडकते दिल क ऊपर वाली कुर्ते की जेब मे वह पडा रहा। अनन्तर प्रात काल आए एक माननीय ब धु पूछने लगे 'वह—दात क्या आपके पास है?"

कहा 'जी सवथा सुरक्षित है। भय की बात नही है। उनके आशय को मैंने समझकर भी नहीं समझा। उ हें भी ज्यादे उघाडकर कहने का शायद उपाय न सूझा।

वह दाँत फिर तो मालूम हुआ अच्छो अच्छो की महत्त्वाकाक्षा का विषय बन गया। यह भी ज्ञात हुआ कि नेपथ्य मे प्रस्ताव हुआ है कि जने द्र अनधिकारी है और दाँत ऐतिहासिक है। उस वस्तु की ऐतिहासिकता और अपनी अनधिकारिता

से मैं अवगत था। इससे अन्दर निबल था और अविश्वस्त था फिर भी मैं सोया बना रहा। मानो बहरा हूँ, कही कुछ सुन नही पाता।

फिर व घु मिले और अदल-बदल कर मिले। और हर बार मैंने आश्वासन दिया कि वस्तु अतीव सुरक्षित है। ब घु निरुपाय लौट जाते और मैं अबोध बना रहता।

पर बात छोटी भी गहन हो सकती है। वही हो रहा था। ऊँचे से ऊचे क्षेत्र विचलित हो गए थे। इन्द्रासन तक डाल गया।

एक रोज बातो बातो म अकस्मात गाँधी जी पूछ बैठे, "जैने द्र, वह दाँत तुम्हारे पास है ?

बचाव-सा करत हुए मैंने कहा 'जी है तो।

अभी है ?"

जी—आप क्या कीजिएगा ?"

"क्या करूगा ? वापस मुह म तो लगा नही पाऊँगा।"

साहस बाँधकर कहा तो फिर रहने ही न दीजिए जैसा कही और वसा मेरे पास।'

बाले आखिर भई है तो वह मेरा न ? हो तो लाओ।"

देखा सामने का व्यक्ति कोरा महात्मा नही है, गहरा वकील है। तिस पर और भी जाने क्या नही है ? एकदम अनुल्लघनीय ही है। चुपचाप पुडिया को जेब से बाहर किया और गाँधी जी के आगे कर दिया।

गाँधी एतिहासिक थ। दाँत ऐतिहासिक होता। साँची स्तूप म बुद्ध का दाँत ही है न। जिसकी हजारो वर्षों बाद ऐसे महामहिम समारोह से प्रतिष्ठा हुई कि जग उसम शामिल हुआ। पर गांधी को शायद इतिहास स लेना देना न था या इतिहास को वह मुक्त चाहत थे कोई टकन उसे न देना चाहते थ कि उसका सहारा लेकर वह लगडा बना रहे।

उन्होने अपने एक अत्यन्त विश्वस्त व्यक्ति को दाँत दिया। कहा देखो किसी गहरे कुए म इसे डाल आओ।"

उस व्यक्ति ने कत्तव्य पूरा किया होगा और वह निश्चिन्त हुआ होगा, लेकिन मानो गाधी जी कई दिन तक निश्चिन्त न थे। तीन चार रोज के बाद उस व्यक्ति से पूछ बैठे, दाँत वह कुएँ म फेंक दिया था न ?"

'हाँ।"

गहरे कुएँ म ?"

'हा।"

'ठीक याद है ? फेंक दिया था ?"

"यक्ति ने 'हाँ' कहा और गाधी जी ने गहरी सास ली। मानो उन्हें जगत् की ओर से ढारस म हो। मानो वह अपनी ओर से सब हलकी सम्भावनाओ को समाप्त कर देना चाहते हो। दुनिया के मोह और आसक्ति की पकड के लिए वह कुछ छूटने न देना चाहते हो, पर जगत् की नाना आसक्तियो की विवशता भी लेन हो। और हठात अनुकम्पा से भीग आते हो।

उनकी दृष्टि जितनी सूक्ष्म थी उतनी ही निमम। मैल का कही छींटा भी वह नही सह सकते थे। मल था उन्हें सिफ असत अन्यथा घोर से घोर दुष्कम के प्रति वह सन्य और सहृदय थे। इस सहृदयता और निममता का योग कसे सध सकता है ? यह जानना मानो गांधी जी का जानने स सम्भव हो सकता है।

इन्ही दिना की बात है। मैं फिर हरिजन बस्ती नही गया। दिन बीतते गये और अखबारो से मालूम हुआ कि अगले दिन गांधी जी जान वाले हैं। उसी दोपहर एक पत्र मिला, जिसको पाकर मैं चकित रह गया। गांधी जी का मुझे यह पहला पत्र था और किसी उत्तर म न था। पढकर मैं सन्न रह गया। कोई पुस्तक मैंने उन्हें न भी थी। उनकी सूझ-बूझ ही मुझमे न थी और न साहस था। जोर डालकर याद किया कि किसी कायकर्त्ता ने जो हिन्दी सीखना चाहती और उसके लिए किताब चाहती हैं कहकर तभी छपी 'दो चिडिया' की एक प्रति ली थी। उसके हाथ म देखकर शायद बापू ने उसे लेकर कुछ उलट पलट लिया होगा कि झट यह खत लिख डाला। मैं आज भी सोचता हूँ तो दग रह जाता हूँ। यह इतना लम्बा चौडा देश भारतवर्ष कैसे उस व्यक्ति पर रीझा रहा ? उसके हमारे म मानताओ पर मानताएँ उठाता गया फिर भी उससे जी होम से भरा रहा—मानो इसका भेद उसम छिपा था। यह दुनिया, जिसे पणा करने स शायद ही कोई बच पाता है, मानो उनके लिया प्रिया' थी। और वह ऐसे प्रेमी थे जो उस निरस्कृता और तिरस्करणीया का प्रेम जीतने के लिए जी-जान की बाजी लगाए बठे थे। मानो उसका वरण उनका लक्ष्य है वह उनकी पराकाष्ठा है। उनकी अनासक्ति मानो उन्हें दुनिया को रिझाने की नई-नई कलाओं की सूझ

देती रहती है। दिन को आठों पहर जगे रहने वाले वह प्रेमी थे। एक क्षण भी आँख नहीं झपकते। क्या इसी का प्रतिफल न था कि उन योगी जैसा दूसरा लोक-सग्रहाक आदमी इतिहास में नहीं मिल सकता। डोरे डालना कहते हैं न—मानो सारे संसार पर वह अपने डोरे डालते रहते थे। और कौन भलामानस बचा जो उस डोर में विवश खिंचा न चला आया। पुस्तक तो साधारण थी पर स्नेह और आशीर्वाद तो उनमें किनारों से भी ऊपर तक भरा था कि सब ओर फैले बिना न रह सकता था। उनके उत्साह और आशिष के दान से ही न उभर कर भारत ने असम्भव को सम्भव न कर दिखाया? यह उनकी अमित प्रीति और अमित श्रद्धा का ही फल न था?

फिर गांधी जी चले गए और अरसा हो गया। मुझे अपने पर शरम थी। कारण उन्हें आशा दिलाई थी कि मैं गाँव में बैठूंगा और सेवा अपनाऊंगा। और वैसा कुछ हो न सका था। और जानता था कि गांधी जी का सामना अब कभी मुझ से न होगा।

[पाँच]

लेकिन प्रेमचन्द जी का देहान्त हुआ। और श्रद्धा विभोर कुछ बन्धुओं की श्रद्धाञ्जलि रूप कुछ धन राशि चली आई और आवश्यक हुआ कि प्रेमचन्द स्मारक की बात सोची जाय। उस सम्बन्ध से काशी में फिर उन्हें अपना मुँह दिखाना हुआ। उसके बाद फैजपुर कांग्रेस में उनकी घोर व्यस्तताओं के बीच योजना मैंने उनके समक्ष रखी। तय हुआ अमुक तिथि को वर्धा में सविस्तार बातें हों। वर्धा पहुँचने पर मिले जमनालाल जी। बोले, 'बम्बई का तुम्हारा पता ही न मालूम था। गांधी जी बड़े चिन्तित थे। कल ही उन्हें पूना जाना पड़ा है। कह गए हैं कि तुम जरूरी समझो तो पूना आ जाओ। देखने ही हो मजबूरी में उन्हें जाना पड़ा है।'

मैं पूना चल पड़ा। स्टेशन आ रहा था और मैं सोच रहा था कि कहाँ कैसे जाना होगा। स्टेशन आ ही गया और मैं प्लेटफार्म पर उतरा। सिकेण्ड भर न हुआ होगा कि एक भाई ने आकर नमस्कार किया। कहा "आप जैनेन्द्र जी हैं न? आइए!"

मैंने असमंजस में कहा "आप? मुझे जानते हैं?"

"मैं कनु हूँ। बापू ने सब बता दिया था।"

मुझे कुतूहल हुआ। पूछ कर मालूम किया कि गांधी जी ने पहनावा और हुलिया का पूरा बखान देकर कनु भाई को भेजा था। अब भी सोचता हूँ क्या उन्हें इतनी फुरसत थी? क्या वह इतने हृदयहीन थे कि इन जमा बातों के लिये भी फुरसत निकाल लेते थे? उनकी सहृदयता मुझ जैसे तुच्छ जनों पर कितनी भारी होकर पड़ती होगी क्या इसका उन्हें अनुमान हो सकता था? पर अनुमान हो सकता था, होता था। तभी वह उस अपनी निर्मम अहिंसा को अपनाए हुए थे, जिससे भारी कोई हिंसा भी नहीं हो सकती। फिर उससे सख्त से सख्त आदमी गले बिना नहीं रह पाता।

उस समय फिर मेरे मन में अंग्रेजी साप्ताहिक निकालने की वासना जगी थी। वासना ही कहता हूँ, क्योंकि भावना होती तो सहज में बुझती, न उससे बरतते हो सका जाता। एक बार इससे पहले भी ऐसा सोच चुका था और गांधी जी के सामने उस विचार को रखने की भूल कर चुका था। उन्होंने निरुत्साहित किया था। इस बार गांधी जी ने कहा—

"अंग्रेजी क्यों? हिन्दी क्यों नहीं?"

मैंने कहा, "अंग्रेजी में बात उन तक पहुँचती है जहाँ उसे पहुँचना चाहिए।"

"इसीलिए तो कहता हूँ अंग्रेजी में नहीं। जरूरी समझो तो हिंदी में निकालो। जिन तक पहुँचनी चाहिए वह तो हिन्दी में ही पहुँचेगी। अंग्रेजी वालों को जरूरत होगी तो देखेंगे।"

"तो आपकी अनुमति नहीं?"

"मेरी तो राय है, अनुमति अपने अन्दर से लो। मैंने तो अपनी कह दी, निर्णय के लिए तुम स्वयं हो।"

यह उनका अत्यन्त व्यस्त समय था। एक एक मिनट का मूल्य था। पर उन्होंने अपनी ओर से पूछा, "दवा क्या नहीं है—पिता के पास? सब ठीक है न?"

जो जानना था मैंने बताया। उन्होंने गहरी साँस ली। फिर पूछा— "अभी आज ही चल जाओगे?"

"जी और क्या?"

हँसकर बोले, "ठीक है। कहीं ठहरना क्या?"

दूसरी बात जो उस समय हुई, प्रेमचन्द-स्मारक के सम्बन्ध में थी। असल में

उसी उद्देश्य से यह यात्रा हुई थी। पर वह अलग कहानी है और दु:खकर। गाधी जी खिन्न थे, पर क्या कर सकते थे। हिंदी और उर्दू प्रेमचन्द को लेकर अगर बीच की खाई न पाट सकें और अपनी अनबन न भर सकें तो क्या किया जा सकता था। मेरी कोशिश यही थी पर होनहार का अपना तर्क होता है। कोशिश में दिखा ही सही हो सकती है, इससे आगे आदमी का क्या बस!

ऐसे धीरे धीरे शरम घुल गई और अवसर की मजबूरी से फिर मैं बापू के सामने हो पड़ा। या हो सकता है यह इससे पहले की बात हो। वर्धा से सेवाग्राम का रास्ता तब पगडण्डी का था और वह भी साफ नहीं। चले तब ऐसा अँधेरा तो न हुआ था, और मित्र-जन साथ थे फिर भी हम राह भटक गए और आवश्यक से दुगुनी दूरी पार कर रात अधेरे बापू की कुटिया पर जाकर लगे। तब सेवाग्राम बसा न था, कुटिया एक ही थी। मुझे तब प्यास लग आई थी बा ने पानी दिया और फिर मैं डरता डरता कुटिया पार कर आगे बढ़ा।

देखा बापू बाहर खुले मैदान में बैठे थे। पास आते आते सोच रहा था, हाथ जोड़कर प्रणाम करूँ कि मण्डली से घिरे बापू आंख उठा कर बोले 'तभी तो! मैंने कहा कि कोई आया है। लालटेन दीखी थी न—सो तुम हो? बैठो। लेकिन बात अभी नहीं। और अब जाओगे वापस क्या रात यहीं रहना है न?"

देखा कि क्षण में सब हो गया है। स्वास्थ्य का लाभ हो गया है और अनिश्चय कटकर निश्चय प्राप्त हो गया है।

इसी अवसर पर याद है, मैंने पूछा था 'बापू आप से इतना डर क्यों लगता है?

पलट कर बोले 'लगता है डर?'

मैंने कहा हां बहुत लगता है।'

बोले तभी तो मैं बचा भी हुआ हूँ!"

धक से मुझ सारे को बिजली छू गई। कभी ऐसे उत्तर की अपेक्षा न थी। आज भी लगता है कि दुनिया में कोई नहीं है एक गाधी के सिवा जो ऐसा उत्तर दे सकता है। इतनी क्रूरता क्रूर में सम्भव नहीं हो सकती। सत्य के अहिंसक साधक में ही इतनी अनासक्त यथार्थवादिता हो सकती है। ऐसी पैनी कि छुरी की धार क्या होगी!

एक ज़माना था कि भाषा का झगड़ा गम था। झगड़ा यों अब भी है पर जैसे तब वह तपकर लाल सुर्ख हो आया था। झगड़े का मूल मन में होता है उतरता ही जिस तिस नाम पर है और नहीं तो भाषा ही सही। है यह अचरज की बात, क्योंकि भाषा मेल की जरूरत में से बनी है। आदमी हिलमिल कर ही जी सकता है। वह इस तरह स्वतन्त्र नहीं कि जैसे जानवर। इसलिए उसका तन्त्र स्व से नहीं परस्पर में से बनता है। अलग से हम पास जा रहे हैं और भाषाएँ अपनी सीमाएँ खोती हुई एक दूसरे में मानो समाई जा रही हैं। यह प्रक्रिया रोकी नहीं जा सकती कारण, विकास नहीं रोका जा सकता। भाषा पर अपना स्वत्व लाद कर बैठेंगे तो गति के साथ हम ही नहीं चल पाएंगे, ओछे रहकर इधर ही छूट रहेंगे। फिर भी वर्तमान से कभी हम इतने चिपटते हैं कि भविष्य को अपने हाथों ही रोक देते हैं। जो अधुनातन नूतन से डर आता है वह उसी क्षण पुरातन होकर सनातनता। पर जड़ शव की भांति बोझ बन उठना है। सनातन को तो सतत सद्य रहना है इसलिए पुरातन को नाश बनने से पूर्व ही नूतन में रूपान्तरित होते जाना है। वर्तमान पर आसन लगाकर बैठने वाले लोग यदि इसको नहीं समझते तो वे भवितव्यता के हाथों अन्त में समाधिस्थ होते हैं।

जो हो हिन्दी उर्दू का झगड़ा था और हिन्दुस्तानी शब्द दोनों को चुभता था। मैं यों लेखक हिन्दी का समझा जाता था पर वह हिन्दी जानता भला मैं क्या था? बोलता था करीब वैसे ही लिख जाता था। भाषा का कोई ज्ञान पाया नहीं था। इस अज्ञान में से देखा कि मुझे हिन्दुस्तानी अपनाने में कोई बाधा नहीं है, बल्कि कुछ सुभीता ही है। उस शब्द का उपयोग गांधी जी द्वारा होने में मुद्दत की देर थी कि तभी शायद सन '३३ ३४ में प्रेमचन्द आदि हम लोगों ने एक आध हिन्दुस्तानी सभा बना डाली थी।

इसी कारण शायद होगा कि वर्धा में हिन्दुस्तानी प्रचार-सभा बनी तो काका साहब (काका कालेलकर) की तरफ से पत्र आया और फार्म आया कि मेम्बर बन जाओ।

मैंने लिख दिया कि 'हिन्दुस्तानी' में मेरी श्रद्धा है, मेम्बरी में नहीं है। भाषा के विषय में मुझे अपने लिए कुछ करने को है भी नहीं, इसलिए माफ करें।

काका ने लौटकर लिखा कि गांधी जी की इच्छा है, फार्म भर भेजो।

फार्म भर दिया और फीस भेज दी, लेकिन खबर आने पर उसकी बैठक में जाकर शामिल होने का बहुत उत्साह नहीं हुआ। तिस पर बैठक सेवाग्राम में होनी थी। सोचा—बापू रे! गांधी का सामना कैसे होगा? याद नहीं कि वैसा लिखा कि नहीं, पर मन में स्पष्ट अनुमान किया कि अगर किसी बैठक में जाऊँगा ही तो तब जब गांधी जी से वह स्वतन्त्र हो और सेवाग्राम से अन्यत्र। पर यह टेक टिका नहीं। दूसरी या तीसरी बैठक की सूचना पर सेवाग्राम बापू की कुटिया में उपस्थित हो गया।

तब पास महादेव देसाई ही थे। बापू ने आँख उठाकर मुस्कराहट से पूछा, "कहो कैसे आए हो?"

यह—हिन्दुस्तानी की बैठक है ना!

"उसके ही लिए आ गए हो?"

'हाँ, क्यों?'

"—तब तो हिन्दुस्तानी में भी जरूर कुछ है। योगी जो आ गया है।

सुनकर मैं सन्न रह गया, जैसे शब्द भीतर तक मुझे काट गया। उसमें व्यंग तो था ही पर गांधी जी की ओर से जैसे सत्यता भी उसमें पड़ गई हो। यही तो उनकी मोहनी थी। इसी मन्त्र से सामान्य मनुष्य में से वह अमित सम्भावनाओं को प्रत्यक्ष कर निकालते थे। उनकी अगम निष्ठा में से असम्भव सम्भव हो उठता था। मैं विगलित होता चला गया। झेंप की हद न थी। गांधी जी की आँखें हँस रही थीं मानो मेरा मैल अन्दर गल रहा हो। सम्भावनाएँ जो तल में दबी थीं मानो उभरना उठना चाहती हों। तब समझ में आया कि पारस क्या होता होगा। क्या होता होगा कि जिसके स्पर्श भर से लोहा सोना हो जाय। सामान्य मनुजों के इस भारत देश ने जो चमत्कार कर दिखाया वह गांधी के किस जादू से सम्भव हुआ होगा—यह समझ में आ गया।

सन् ४२ के वे दिन थे। जुलाई का अन्त आ रहा था। कल इसी कुटी में कांग्रेस की कार्यसमिति बैठी थी। सप्ताह बाद बम्बई में 'क्विट इण्डिया' (भारत छोड़ो) की चुनौती बज जाने वाली थी। 'करो या मरो' का आवाहन देश में गूंज जाने वाला था। गांधी उस समय भीतर से क्या तो रहे होंगे, पर बाहर शान्त मुस्कराहट थी। बोले, "ठहर रहे हो न? या—'

शाम ही चल जाने की सोचता था।

'कल रह सकत हो तो कल मिलो। मिलोगे—तीसरे पहर ?"

'जो आज्ञा।"

पहले वही डोरे डालना लिखा है, वही शुरू हुआ। ऐसे बारीक डोरे कि क्या मकड़ी बना सकती है। कह सकता हूँ कि व तार निरे अनासक्त प्यार के बने थे। वे बंधन नही बनते, केवल सुरक्षा पहुँचाते है। माना व आश्वासन और वात्सल्य न थे। आज इसे मैं अपने जीवन का बड़ा दुर्भाग्य मानता हूँ, तब अपनी विजय माना था, कि मैं उन डोरो से खिंचकर गांधी जी के मन के और निकट न पहुँच सका। उस समय अपने मे अभिमान जगाकर जस मैं सावचेत हो आया था। उनकी कल्पना म था कि दिल्ली मे यह और वह हो सकता है, और उस सबको मैं अपने कन्धा सम्भाल लूगा।

उन्होंने पूछा कि मेरा अपना क्या विचार है ?

मैं तब और तरह की खाम ख्यालिया म था बताया कि मैं अपने बारे म तो ऐसा सोच रहा हूँ।

सुनकर क्षण के सूक्ष्म भाग तक भी उन्होंने देर नही लगाई। डोरे अपने सब समेट लिए। मेरी स्वतन्त्रता मुझ म मानो और परिपूर्ण हो आई। तनिक भी आरोप उनका मुझ पर दबाव न दना रहे इस आतुरता म उन्होने कहा, हाँ यह तो और भी अच्छा है। तब तो, देखो अमुक से मिलो। वह ठीक कर देंग।"

मैंने इस प्रोत्साहन पर गांधी जी का देखा। उनकी आँखो म निर्मल स्नेह छलकता दीखा। देख सका आत्मत्याग म उन्ह कष्ट नहीं होता बल्कि उसी म मानो आत्मलाभ की-सी प्रसन्नता होती है। गांधी जी बेहद व्यवहारी थे पर मानो उनके व्यवहार कौशल का भेद ही यह था कि वह सबको स्वय रहने देते थे, बाहर म अपना तनिक स्वत्वारोपण उस पर न जाने देते थे। और इस प्रकार व्यक्ति उनकी उपस्थिति म उनका योग पाकर मानो अपने को स्वय अपने से बड़ा हुआ और उत्कृष्ट अनुभव कर आता था। इसे अहिंसा की कीमिया नही तो और क्या कहें ?

शाम का समय आ गया। कुटिया से गांधी जी बाहर हुए, बाँस की बाड़ तक बढ़कर आए और खड़े हो गए। हाथ म लाठी। बदन का उपरना हल्की हवा से लहराता हुआ। चेहरा उनका कुटिया की तरफ मुड़ा—सौम्य और शान्त और गम्भीर। चारों तरफ सुनसान। न जाने मुझे क्या हुआ। मैंने उस निपट आदमी

को देखा। जी जसे उमडा आता हो। मानो आसू भरे आ रहे हों। ऐसा लगा कि कितना यह आदमी एकाकी है। कोई कहीं कुछ उसका नहीं है। यहाँ का ही वह नहीं है। लगा कि इतना अकेला इतना अकेला ! जी विह्वल हो आया। लाठी के सहारे सामने खडे, उघडे से बदन उस चिरप्रवासी एकाकी व्यक्ति के लिए मन म बेहद करुणा उमडी। वह महापुरुष है जबकि मैं बालक हूँ इसकी कहीं सुध न रही। मानो वह शिशु हो और हम ससारियो म उसके लिए करुणा ही हो सकती हो। जी हुआ कि चलकर उसे पुचकारें थपकें और तरस म उसके साथ थोडा सा रो लें। वह इतना निरीह, अकिंचन, असहाय और प्रवासी जान पडता था। मानो उसका सहारा बस एक भगवान हो, जो अव्यक्त है और जिसे चाहें तो हमीं अपने भीतर स व्यक्त कर सकते हैं।

वह क्षण मुझे भूलता नहीं है। उस भाव के लिए किसी ओर से मैं सगति नहीं पाता हूँ। वह अतक्य है लेकिन फिर भी वह सच था सच है और सच रहने वाला है।

[सात]

दिल्ली की बात है।

मैंने कहा 'बापू सत्य का आग्रह तो जीवन के साथ है। किसी क्षण वह रुकता नहीं अनावश्यक नहीं होता। सत्य के उसी अनुगमन म आपके लिए असहयोग आ गया, सघर्ष आ गया। सत्य की वह चुनौती तो मौजूद ही है विदेशी हुकूमत सिर पर बैठी है। फिर यह क्या बात है कि एक साल के लिए आपने सघर्ष को और राज कारण को अपने लिए निषिद्ध बना लिया है। होगा तो वह भी सत्याग्रह का रूप, लेकिन '

बोल उठी। बोले 'मानते हो कि वह भी सत्याग्रह का रूप होगा?'

'मानना तो होगा ही क्योंकि उसके बिना आपके लिए श्वास कहा। लेकिन यह आप कसे डिटरमिन करते हैं कि वह आग्रह अब तो प्रवृत्त सघर्ष के रूप म होगा और तब उसका स्वरूप निवृत्त और निष्क्रिय होगा।"

यह तब की बात है, जब गाधी जी के उपवास के कारण उन्हें हुकूमत ने जेल से रिहा कर दिया था और गांधी जी ने स्वेच्छा से सजा की अवधि के लिए हरिजन सेवा के काम के सिवा दूसरे सब राजनीतिक समझे जाने वाले कामो से उपरत रहने का निश्चय किया था।

प्रश्न पर तत्क्षण गांधी जी बोले, 'पर डिटरमिन' करता नहीं हूँ डिटर मिण्ड' पाता हूँ।"

उत्तर सुनकर सन्न रह जाना पड़ा। यह उत्तर एक गांधी का ही हो सकता था। देख लिया कि उनकी थाह नहीं है क्योंकि वह स्वयं में ही नहीं है। नाम भर के लिए स्वयं है, बस इतना कि व्यवहार टिक सके। बिन्दु वही तो है जो जगह तक न ले। मानो गांधी ज्यामिति का आदर्श बिन्दु हो तनिक भी अवकाश उसे अपने लिए घेरना नहीं है। सब उनका है जो सब में है। उसका आपा भी उन्हें उसका है। यानी वह सब में है सबका है। तभी तो कह दिया— डिटरमिन करता नहीं डिटरमिण्ड पाता हूँ और कहकर जैसे सम्भ के लिए मैं को अपने में और शेष में निःशेष कर दिया।

उस उत्तर का छूकर मैं सन्न सहमा रह गया। कुछ देर कुछ भी न सूझ पड़ा। जैसे व्यक्ति में विराट समक्ष हो और उसके आकस्मिक दर्शन ने सब सुध बुध हर ली हो। फिर बोला नहीं गया अवश न बैठा रहा और कुछ अनन्तर बस चुप चाप उठकर चला आया। वह अवसन्नता की अनुभूति —याद कर सकता हूँ—जल्दी मुझ से उतरी नहीं, बहुत देर तक साथ बनी रही।

[आठ]

उसी दिल्ली प्रवास के समय। भोजन के अनन्तर विश्राम की वेला थी। मीरा बहन थीं शायद, उनके पांवों की मालिश कर रही थीं।

मैं कह रहा था, 'बापू आप के पास यथावश्यक से अधिक नहीं टिकता और वह आवश्यक कम-से कम होता है। जैसे कि कपड़ा—जरूरत में उसे कम ही कहना होगा। जैसे आपका तन जैसे आपके सिर के बाल मूंछ चोटी। जो है अनिवार्य कारण से है और मानो बस होने भर के लिए है ऐसा क्यों है?'

गांधी जी बोले 'क्यों क्या? है इसलिए है।'

'बस इतना ही?'

'और क्या—'

'क्या हो सकता था कि आपके दाढ़ी होती?'

गांधी जी जैसे कुछ सोचते रहे। बोले 'साउथ अफ्रीका में जेल में दाढ़ी हो गई थी—पर आखिर अपना साफ कहा।'

बात यह कि—जैसे रवीन्द्रनाथ हैं। बाल उनके बढ़े हैं अपने से उन्हें छोटा

करने की उनको सूझी नहीं। दाढी, तो खुली छाती तक आती हुई। कपडे, तो इतने फैले कि उसम उन जितने दो तन समा जायें। यह सब क्या यो ही मान लिया जाय, कि है इसलिए है ?"

गांधी जी की आंखो मे मुस्कराहट थी। बोले, 'मतलब कहो।'

'आप अपरिग्रह चाहते है। जरूरत से ज्यादे लेना या रखना चोरी है। आप सत्य चाहते हैं स्वत्व नहीं चाहते। सब म स्वत्व को खो देना चाहिए यह आपकी निष्ठा है। कहीं ऐसा तो नहीं कि अनिवाय है कि वही विचार आपक रहन सहन मे झलक। जैसे कि रवीन्द्रनाथ मे निषेध नहीं है, सबका स्वीकार है—प्रकृति का और प्रकृत का। सबका और सबके प्रति उसमे आवाहन है। इससे यथावश्यक की जगह वहाँ अतिशय हो तो यह सहज और स्वाभाविक ही हो सकता है।"

गांधी जी लेटे हुए थे। पलकें झपकने के निकट थीं। हौले से पलक उठाकर और सिर हिलाकर बोले "हां, सो तो है। सो तो होगा।'

मैंने उन्हें देखकर कहा आपका विश्राम का समय है। नींद मे मैं बाधक न बनूंगा—मैं चलू।'

बोले, 'नहीं बाधक न बनोगे। अपनी कहते जा सकते हो। नींद अपन समय से आ जायगी। आने पर तुम समझ ही जाओगे। तब चाहो तो उठ जाना।"

और मेरे देखते-देखते चन्द सिकेण्डों मे नींद चुपचाप चली आई। शिशुवत वह सो गए और मैं अचम्भे म रह गया। नींद भी इस तरह किसी की चेरी हो सकती है यह मैं सम्भव न मानता था। लगभग तभी मीरा बहन क हाथ रुक गए। समझ गया नींद समय से आई है। समय होने पर उसे उसी तरह चले जाना भी होगा। गांधी जी की ओर से उस बेचारी का भी समय नियुक्त है। यह अधिकार, यह करुणा, गांधी जी कहां से कैसे पा सके थ।

[नौ]

जीवन के अन्तिम दिनो म गांधी जी को लम्बी अवधि यहा रहना पडा। रह शाम प्राथना सभा मे उनके महत्त्वपूण वक्तव्य होते। स्थिति सकट की थी। स्वराज्य नया था और झिल नहीं रहा था। जाने कितनी नई समस्याएँ निपटारे क लिए उन तक आती थीं। वह मानो ध्रुव थे। और भारत का जहाज उनसे छूटकर डगमगा रहा था। हिन्दुस्तान फटकर पाकिस्तान बना था। बटवारा यह ऐसे न हुआ था जैसे दो भाइयो म होता है, मानो आरी से चीरकर दिल को दो

म काटा गया था। उसमे से कितनी न आग निकल रही होगी और कितनी आह। गांधी उस झुलस और तपन के बीच थे, एक प्राथना मे सा त्वना थी, यो जल रहे थे।

पत्रों मे प्राथना वाले भाषण उनके पढता पर स्वय प्राथना-सभा मे जाने का साहस न जुटा पाता। हजारा लोग आते थे, फिर वहाँ जाने म साहस की क्या बात थी। फिर भी मेरे लिए वह साहस की ही बात थी।

आखिर एक दिन साथी मिले बचाव न मिला तो प्राथना सभा मे मैं पहुँच सका। प्राथना हुई। गीता के श्लोक हुए बौद्ध स्तवन हुआ, कुरान की आयतें हुइ भजन हुआ और गाधी जी का प्रवचन भी हुआ। सभा उठी। गांधी जी उठे। पीछे की ओर लोग बचकर दो पातो म हो रहे कि गांधी जी सुविधा से जा सकें। निगाह नीची किए गांधी जी उस गली मे से अपने डेरे की ओर चल। तभी पास खडी महिला की गोद मे से बच्ची ने पुकारा—'बापू!"

बापू एक आध डग आग बढ गए थे, मानो गहनता मे ऐसे लीन थे। सहसा डग उनका थमा। वह पीछे की ओर मुडे। चेहरा खिल आया। दोनों हाथों को अपने चेहरे के दोनों ओर लाकर मानो बन्दर हों, उस बच्ची की ओर मुह बढाकर बोले — हुऊ!'

बच्ची सहमी फिर खुशी से खिल उठी लेकिन बच्ची के बापू उसके साथ क्षण भर के लिए बन्दर बनकर आगे जा चुके थे। उसी तरह गहन लीन और अगाध।

[दस]

३० जनवरी सन १९४८। किसी न नाम को कहा— अरे सुना कुछ? गांधी जी गए!' लकिन मैंने यह नही सुना। उसने जिद से कहा—"न मानो तो रेडियो पर सुन लो।'

जिद से ज्यादे उस कहने म रज था। टालना उसका सम्भव न हो सकता था। तभी उस कहने से निरपेक्ष अन्दर लग आया कि हाँ गांधी जी गए। पर क्या सच? मन सब जानता था, फिर भी हठ से धक्का करना चाहता था। रेडियो रोना, वह रो रहा था।

सुना और वहां से हट गया। दूर जहाँ कुछ न सुनाई द। पर कोने म अकेले मुह डालकर बैठ जाने से भी न हुआ। क्या करू? अपना क्या करूं? और यह

जो चारो तरफ है, समय और शू य, उसका क्या करूँ ? उठकर निकल आया नगर से बाहर निजन म। पर मालूम हुआ कि यहाँ भी सब घुट गया है, कहीं खुला बाकी नही है। उस रात नीद तो आई पर वह नीद जसी नही थी वह जगी सी थी और दु खती थी—मानो सपना की लडी हो। सवेरे घडी म जब देखा चार बजे है तो उठा। पर सोचा जल्दी है अभी चलना ठीक न होगा। चार का किसी तरह साढे चार नब टाल सका फिर पाव पाव चल दिया, मानो सब राहे उधर ही जाती हो। माना दुनिया का जीवन एक अतल रिक्त को पाकर उस पर केद्रित आवन बन आया हो। मानो समस्त चेतना एक शू य पर आ टिकी हो और सास घुट गया हो।

भीड का ठिकाना न था पर उस भीड म से भीडपन गायब था। गोया सब अपने अपने म हो और कोई दूसरे म चुभता न हो। मब मगन और शात और मानो समाप्त होने को तयार हो। वे बेबस भाव से चले जा रहे थे, मानो कोई मत्यु क्या उन्ह जीती छोड गई यही पूछने जात हो।

एक भूले भाई ने प्राथना क समय गोली मारकर उन्ह शा त कर दिया था। नाम उसका गोडसे था और उसे फासी लग गई। पर ये बेकार की बातें हैं। वसे जीवन का और भिन्न अ त न होने वाला था। मत्यु जीवन क अनुकूल ही हो सकती है। वह गाधी जी की अजित मत्यु थी भगवान की वरद मृत्यु थी। अकाल मत्यु ? मुझसे उसे अकाल म यु कहत नही बनता। भला फिर सकाल और सावक मृत्यु क्या होती होगी ? जीवन सतत् यज्ञ है। जिसका जीवन निरन्तर आहुति बनकर उजलता रहा हो मृत्यु अत म उसे पूर्णाहुति के रूप मे ही ता आ सकती है।

कमर म शव रखा था और लोग चारो ओर बठे थ। रात भर वह उसी भाति रखा रहा था और लाग बठे रह थ। किंतु अन्त म शव का उठना था और सबको भी उठ आना था। क्योंकि जो शव मे था वह अनन्त म जा मिला था, और इस तरह अन्त म सबके अपन पास आ गया था। व्यक्ति तत्त्व हो गया था और वह सबक आत्म म पहुच गया था। अब यही मवितव्य और कत्तव्य बचा था कि शव को फूकें और अपन अपने आत्म म उस तत्त्व को सम्भालें और सवारें जो कभी व्यक्त होकर व्यक्ति म मूत्त था और अ यक्त होकर सबके निमत म पहुँच गया है। व्यक्ति हाकर कुछ का ही हो सकता था, किन्हीं के लिए अपना किन्ही दूसरा

के लिए गए। अब शरीर-सीमा की बाधा जो हट गई है, सो सब विश्व के अपनाने के लिए वह मुक्त हो सका है।

यह सब था और जानता था कि मृत्यु ही मरा है। और ऐसा होने से ही सुविधा हुई है कि जो अमर था वह सदा जीता रह सके। फिर भी मालूम हो रहा था कि सब खो गया है। अस्तित्व सत जहां हुआ हो हुआ हो हमारे लिए मानो लुप्त बन गया।

रह रहकर कमरे में जाता और झांकता। क्षण भर ही उधर देख पाता। देख पाता कि भर आता और फिर मकान की लम्बी गलरी में डग भरने लगता। सभी तो आदमी थे, बड़े से बड़े और छोटे भी। वे मकान में थे और बाहर भी असंख्य थे। सबका कुछ लुट गया था।

शरीर को क्या रख न लिया जाय? वह तो अभी पास है। विज्ञान से उसे जितना स्थायी किया जा सकता हो उतना क्या न कर लें? अभी तो दुनिया दर्शन को तरसेगी। उसके प्रति सदय होकर क्या कुछ-न रोज के लिए इस काया को सुरक्षित रख लें? एक प्रेम यह चाहता था और वह विचारवान था।

पर विजय दूसरे प्रेम की हुई जिसे जीते गांधी की याद थी और उसने कहा कि नहीं जो जीता था वह मरे की पूजा न चाहता।

तब अर्थी उठी और सड़कों पर मैदानों में जितने समा सके आदमी साथ हुए उसको भस्मीभूत कर आए जो आत्मीभूत हो गया था। □

जैनेन्द्र : मृत्यु पर



मुझे कहा गया है कि कल्पना करूँ, मौत सामने है और जी नही, कल्पना की मुझे जरूरत नही है। ७२ वर्ष पार कर चुका हूँ और यह मेरी अतिरिक्त आयु है। ज्योतिष शास्त्र की अनुमति सत्तर वर्ष से आगे के लिए नही थी। उस शास्त्र की मैं अप्रतिष्ठा नही चाहता हूँ और अपनी इस अनधिकृत वय पर सचमुच प्रसन्न नही हूँ। चाहता हूँ जल्दी छुट्टी मिले और शास्त्र की वाणी पूरी हो।

उस रोज चलते चलते झोंका आया और सम्भला ही नही गया। गिरने को था कि राह चलते प्रदीप ने बचा लिया। गिरने से तो बचा लिया पर क्या मरने से भी बचा पाता? घर पर मालूम हुआ तो हुक्म हुआ कि आगे मैं अकेला कहीं न जा सकूँगा। पत्नियाँ भोली होती है। भला सोचिए कि चलने का वक्त आयेगा तो कौन साथ जा सकेगा?

बचपन मे पढा था 'गृहीत इव केशेषु मृत्युना धर्ममाचरेत'। मौत लगता है मेरे केशों को ही नही छू गयी है, त्वचा तक भी अपनी थपकी दे गयी है। यानी द्वार पर ही है शायद अन्दर आने की बस अनुमति के लिए ठहरी है। मुझे नही लगता यमदेव अशिष्ट हैं। शिष्टता के नाते केवल जरा ठिठक गये है कि अच्छा तनिक अवसर ले लो। लेकिन सोचने का अवसर पाकर भी सोच नही पाता कि जाते जाते मैं पीछे छोड क्या जाना चाहूँगा? माना जाता है कि जानेवाला ही जाता है शरीर यहीं छूटा रह जाता है। वह भी छूट जाता है जो उसने बटोरा होता है। पर छूटे शरीर को बन्धु-बान्धव बचने नहीं देते सर्वथा भस्म कर डालते हैं। भस्मि भी जल मे बहा देते हैं। फिर इधर उभरता हुआ समाजवाद सोच रहा है कि बचे

अप्रैल १९७७।

कुच पारिवारिकों को उसका ,समाज सभाल ले और गये हुए का मालमता' बाद अपने कब्जे म कर ल।

जहाँ तक मालमता जमा होने की बात है,मुझे अपने म कभी आशा नही रही। विवाह मेरा न सरकारी हुआ, न समाजी। सारी प्रथा परम्परा से अलग मेरे मामा के अपने अनोखे ढग से वह शादी हुई। बरिस्टर चम्पतरायजी ने चेताया कि विवाह यह वध या कानूनी न माना जाएगा। मैंने कह दिया कि कानून लगेगा तब जब कुछ सम्पत्ति के नाम पर परिग्रह जुटेगा। मेरे मामले म वह अघट घटने वाला ही नहीं है।

कहते हैं शरीर यही छोडकर जाने वाला जो जाता है सो उसके साथ धम जाता है। अब मेरी मुसीबत यह है कि आगे फिर फिर पुनज म के लिए कोई जीव है भी जो जाता हो, यही मैं नही जानता।

सन् '३० मे मुझे जेल जाना पडा। जेल स्पेशल थी और काम कुछ नही था। खाली दिमाग खाली उधेडबुन न करे तो क्या करे? और वहां गीता की एक क्लास शुरू हुई। नतीजा यह कि मैंने पाया कि अपने बावजूद मे आस्तिक बना जा रहा हू। और मेरी घबराहट का ठिकाना न रहा जब पाया कि सामने मेरे एक विकट विकल्प है। या तो मैं ईश्वर को मानू या पुनज म को ही मानू। दानो एक साथ नहीं चल सकते। ज म से जैन होन के नाते ईश्वर को मानना मेर लिए एक दम आवश्यक नहीं था। पुनज म अवश्य जैन सस्कारवश मानता ही आया था। अब दिखा कि मामला बिलकुल उलटा है। ईश्वर मानना होगा और पुनज म की मा यता को छूट जाने देना होगा।

जेल स आने पर इस उलझन को लेकर मैं इनस मिला उनसे मिला। कइया ने कहा गांधी से मिलू। सलाह एकदम वाहियात थी। भला उन महात्मा पर यह फालतू बात कैसे डाली जा सकती थी। लेकिन दुर्योग कि वही होन में आ गया। श्रीमती की छोटी बहन अनेको वर्षों से गांधी जी के आश्रमो म रहती आयी थीं। देखता क्या हूँ कि उस साली के कारण मैं गांधी जी के दरबार मे पग हूँ। गांधी एक पहुँचे हुए थे। बात पकड भी कहते ही क्यों? नतीजा हुआ कि वचनो तो मरी कटी, प्रश्न नहीं कटा।

प्रश्न था कि'मैं हू ? या मैं है? हूँ तो मैं अव य पर जिसम हूँ उस शरीरमतो असख्यासख्य अ य सूक्ष्म जीवाणु भी हैं। मेरा होना उनसे अलग है क्या ? इसलिए

मैं' एक कृत्रिम धारणा है जो जन्म से मिलती है और मृत्यु पर समाप्त हो जानी चाहिए। यह तो शरीर की बात हुई। चैतन्य को लें तो चेतना का एकत्व कहां है? चित तो सब कहीं व्याप्त है। उसका घटक मान लेते है व्यवहार के लिये असल में तो वह कहीं पृथक है नहीं। आदि आदि तर्कों को लेकर माने बैठा हूँ कि सब यहीं का यहीं पचभूत में बिखर रहता होगा। चित केन्द्र शून्य में व्याप्त होता जाता होगा। यानी धर्म अधर्म जो व्यक्ति से हुआ हो वह उसी तक कैसे सिमटा रह सकता है? उसका प्रभाव सभी का तब आसपास फैल के रम नहीं जाता है क्या? सत्त्व क्या वह अपने पास रख सकता है? इस अलाय बलाय को लेकर छुटपन में सीख शास्त्र के सूत्र पर धर्माचरण मुझसे हो नहीं पाता। मृत्यु दूर हो तो अधर्माचरण भी कर सकता हू क्या?

फल यह है कि ७२ वर्ष पार करने पर भी नये सिरे से धर्माचरण की सूझ मुझे नहीं हो पाती। प्रतीत होता है कि मौत के डर पर मैं अपने को किसी तरह बदल न पाऊंगा। सन्तोष जनेन्द्र को मृत्यु-दर्शन निर्लोप बना ही नहीं सकेगा। पूछा जा सकता है कि क्या मृत्यु का डर तुम्हें नहीं होता? होता है बहुत होता है पर आदतवश होता है। ७२ वर्षों से जीने की आदत जो पड गयी है तो एकदम उसकी समाप्ति सह्य कैसे हो? और मृत्यु अर्थात समाप्ति। लगी आदत छटते भी कहां छूटती है। भय इसलिए केवल भय है। उसमें साराश एकदम नहीं है। अर्थात उस भय के निमित करते धरते मुझसे कुछ नहीं बन पाता है। कुछ बटोरकर रख जाऊं ये सब बेकार की बातें मालूम होती है। जान चुका हू कि कुछ नहीं टिकता। काल है ही इसलिए कि सब कुछ मिटता जाए। यह भी देखता हू कि ठोस अथवा सपदा के अतिरिक्त जो है यहाँ सब अखबारी है। नाम आज जो चला है कल धून में पडा पिस सकता है। छाप की कारस्तानी के ये खेल हैं।

फिर यह भी है कि जन्म के पहले कुछ था और मरण के बाद भी वह रहेगा। अर्थात जो है वह रह जाएगा और जो होना है सो बीतता जाएगा। इसलिए यहाँ अपने को होने को किसी तरह महत्त्व है तो उसका जो शाश्वत रूप स है। बस मेरे द्वारा यदि हो रहा है तो प्रगट भर हो रहा है।

कहते हैं कुछ नाम अमर हो गये हैं। उन्हें मर सदियाँ हुई सहस्र सहस्र वर्ष हुए पर नाम उनका चल रहा है। सोचने की बात है कि क्यों चल रहा है? इसीलिए कि नाम वह प्रतीक बन गया है व्यक्तिगत नहीं रह गया है। प्रतीक

किसका ? उसका जो वैयक्तिक नहीं था, सर्वथा निर्वैयक्तिक था। आदमी में से जिस मात्रा में वह व्यक्त होगा, जो उसका अपना नहीं, ईश्वर का होगा, उतना और वही ऐश्वर्य सदा के लिए बचा रह जाएगा। पर अपने अभ्यंतर में उस ऐश्वर्य से विहीन सब कौन सिरजा गया है। अमुक व्यक्ति का नाम टिका रह जाता है तो केवल इसलिए कि वह उस विभूतिमत्व के दर्शन का इंगित दे आता है।

तो क्या है वह ईश्वर का ऐश्वर्य ? क्या है जो अनेकता का एक रखता है ? क्या है जो अनंत विरोध और अनंत वविध्य को थामता है। असंख्य पिंड इस ब्रह्माण्ड में अपनी-अपनी कक्षा में अवस्थित हैं तो क्यों ? इस अनेकानिक पारस्पर्य को धारे और साधे हुए जो महातत्त्व है वह क्या है ?

मैं उस परमतत्त्व को प्रेम कहता हूँ।

मैंने किताबें लिखी हैं। कुछ उनमें कथा, उपन्यास मानी जाती हैं जिनमें कल्पना को मैंने खुला खेलने दिया है। कतिपय अन्य तत्त्वदर्शन के कोष्ठक में बिठायी जाती हैं जहाँ कल्पना को परे रखा गया है और माध्यम बुद्धि का रहा है। कहीं कला के कौशल को देखा गया है। अन्यत्र बुद्धि की विदग्धता को सराहा गया हो सकता है।

पर मैं जानता हूँ न कलाकार जिएगा न तात्त्विक रह पायेगा। सब काल के गाल में समा जाएंगे। इसलिए उपन्यासकार जैनेन्द्र अथवा चिंतक जैनेन्द्र यशस्वी हो यह कामना प्रवंचना है। जो व्यक्ति का है, उसका यश टिक नहीं पायगा। न वहाँ कुशलता चलेगी न विदग्धता पलेगी। पल पल नवीनता आयेगी जो पुरातन को गाड़ती और लीलती जाएगी। पर प्रेम तो नूतन-पुरातन कुछ है नहीं। वह तो बस है, अनिवार्य है और सनातन है। मेरी अपने से यही प्रार्थना है कि कुशलता विद्वत्ता की छाया भी मेरे पास न रह जाए। सिर्फ एक प्रेम रह जाए। जिसने में रहने में जीने में करने में प्रेम के सिवा दूसरा मुझे कुछ अभीष्ट रह नहीं। यह मैं चाहता हूँ। सारी क्षमता योग्यता और विचक्षणता उस प्रेम में विसर्जित होती रहे। कारण और सब छूछा और थोथा है। वह एकदम बनावटी है। और प्रेम अपने को स्वाहा करना ही चाह सकता है।

मृत्यु ईश्वर की मर्जी व्यक्ति को प्राप्त होती है। उसमें से व्यक्ति सीख सकता है कि स्वेच्छित मृत्यु ही बस उसका एक कृतार्थ है। प्रेम हर पल उस स्वेच्छित मृत्यु की कामना के अतिरिक्त अन्य कुछ है नहीं।

मेरी पत्नी है मेरे बच्चे हैं मेरी किताबें हैं। उनके लिए मैं क्या चाह सकता हूँ ? देखता हूँ कि सत्ता अस्थिर है सपदा भी अस्थिर है। और देखते-देखत जिन्ह मैंने अपना माना है वे सब अपने मे स्वय और मुझसे स्वतन्त्र बनते जा रहे हैं। कुछ उनके लिए चाहना और करना उनकी स्वतन्त्रता पर आरोपण डालना हो सकता है। लगता है कि उनके और सबके लिए यदि कुछ किया जा सकता है तो यही कि मैं अपने को चुपचाप यहाँ से ऋण कर जाऊँ। अपनेपन की छाप ही यहा से पूरी तरह धो पोछ जाऊँ।

यह नही कि मुझम प्रतिष्ठा की या यश की कामना नही होती। पर कामना उठती नही कि सूझ जाता है कि तेरा चाहा कभी कुछ हुआ भी है कि तू चाहता-ही जाता है। बहुत गहरी अनुभूति मे से उगता है कि तू क्या अलग बना बठा है। जिसका चाहा हो अनन्त काल स इस अनतता म मप न हो रहा है उसम खो रहने सो रहने की घडी तेरे पास आ गई है ता भी अभागे तू अपनी चाह को लिए बठा है। और मालूम होता है कि मौत मे बिना चाह मैं जा मिलू तो बस यही मेरी सपूणता होगी। भवबध भवबाधा की जड म यह चाहत ही तो निमित्त है। अत मोक्ष आत्म निर्वाण मे अलग दूसरा कछ है नहीं।

मैं चाहूगा कि जात जात मत्यु के सत्य क प्रति मेरे मन म प्रणाम हो और अपन लिए बस एक क्षमा की माग हो।

□□□